सस्ता-साहित्य-मण्डल

उन्तीसवाँ ग्रन्थ

आत्मोपदेश

यूनान के प्रसिद्ध महात्मा एपिक्टेटस के सदुपदेश]

श्री नरेन्द्रनारायणसिंह

प्रकाशक
सस्ता-साहित्य-मण्डल,
अजमेर ।

वक्तव्य

इस पुस्तक में यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक और धर्म्मोपदेशक महात्मा एपिक्टेटस के उपदेशों का सारांश संकलित हुआ है। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में फ्रिजिया प्रदेश के हियेरापोलिस (Hierapolis) नगर में इनका जन्म हुआ था। अपने जीवन के आरम्भिक काल में यह रोम-सम्राट् नीरो के एक प्रिय पारिषद् के क्रीतदास थे। उसी समय में यह स्टोयिक-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य म्युसोनियस रूफ़स के (Musonius Rufus) उपदेश बराबर सुना करते थे। इससे इन्हें अलौकिक सहनशीलता और शान्ति प्राप्त हुई।

कहा जाता है कि इनका मालिक एपाफ्रोडिटस अपने दासों के साथ अत्यन्त निष्ठुर व्यवहार किया करता था। एक दिन वह हँसी-हँसी में एपिक्टेटस के पांव को मरोड़ने लगा। इस पर एपिक्टेटस ने कहा—"यदि आप बराबर ऐसा करते जायँगे तो मेरा पाँव टूट जायगा।" तो भी वह मरोड़ता ही गया; यहाँ तक कि पाँव टूट गया। फिर भी एपिक्टेटस ने अविचलित चित्त और प्रशान्त भाव से केवल इतना ही कहा—"मैंने तो पहले ही कहा था कि ऐसा करने से मेरा पाँव टूट जायगा।" यह प्रवाद कहाँतक ठीक है सो प्रामाणिक रूप से कहा नहीं जा सकता। परन्तु एपिक्टेटस लँगड़े थे, यह बात उसके उपदेशों से ही मालूम होती है। जीवन के पिछले भाग में एपिक्टेटस को स्वतंत्रता प्राप्त हो गई थी; किन्तु यह मालूम नहीं कि उसकी प्राप्ति कैसे हुई।

एपिक्टेटस स्टोयिक-सम्प्रदाय के एक आचार्य थे। इस सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक आचार्य ज़ीनो (Jeno) थे। उनका जन्म साइप्रस में हुआ था। वह एथेन्स के बाज़ार के उत्तर-भाग में स्थित "स्टोआ" अर्थात् चित्रित मेहराबदार बरामदे में बैठ कर उपदेश किया करते थे। इसी से इस सम्प्रदाय का नाम 'स्टोयिक' पड़ा। ज़ीनों के बाद क्रिसिप्पस (Chrysippus) और क्लियन्थिस (Cleanthes) इन दो आचार्यों ने स्टोयिक-दर्शन को और भी परिपुष्ट किया। इस दर्शनवाद का आरम्भ ईसके पूर्व चौथी शताब्दी में हुआ था। उसके कुछ पहले प्रसिद्ध सम्राट् सिकन्दर के साथ यूनानी लोग भारत में आये थे और यहाँ के विद्वानों से अनेक विषयों की शिक्षा ग्रहण की थी। इसके पहले ही पाइरो (Pyraho) ने हिन्दू-तत्त्वज्ञानियों से शिक्षा प्राप्त करके स्वप्नवाद और मायावाद का यूनान में प्रचार किया था। स्टोयिक लोग पाइरो के मत से विरोधी थे। तो भी उनके मन पर भारतीय दर्शनों का बहुत-कुछ प्रभाव पड़ा। इसी से एपिक्टेटस के उपदेशों में वेदान्त की छाया परिलक्षित होती है।

स्टोयिकों का मूल मंत्र है—"प्रकृति के पथ का अनुसरण करके जीवन-यात्रा निर्वाह करना"। किन्तु "प्रकृति" किसे कहते हैं? तत्त्व-जिज्ञासुओं के हृदय में और विवेक-बुद्धि में ईश्वरीय इच्छा के रूप में जो प्रकाशित होता है और श्रद्धालु पुरुषों के हृदय में जीवन की घटनाओं की परीक्षा करने पर इस ईश्वरीय इच्छा के सम्बन्ध में जो धारणा उत्पन्न होती है, उसीको स्टोयिकगण "प्रकृति" कहते हैं।

स्टोयिक-मत तात्कालिक यूनानी दर्शनवाद के प्रतिकूल होने के कारण

बहुत लोग स्टोयिकों के विरोधी हो गये थे। तथापि इसके आचार्यगण निर्भीक हो कर अपना मतामत प्रकट किया करते थे। इससे रुष्ट होकर सम्राट् डोमिटियन ने (Domitian) सन् ९४ ईसवी में राजाज्ञा निकाल कर उन लोगों को रोम नगरी से बाहर कर दिया। इस परवाने के ज़ारी होने पर एपिक्टेटस निकोपोलिस नगर में जाकर उपदेश करने लगे। अपने जीवन के अन्त तक वह उसी स्थान में रहे। यहाँ पर उन्होंने जो उपदेश दिये थे उन्हीं को लिपिबद्ध करके उनके शिष्य (Arrian) ने जन-समाज में प्रचार किया है।

धर्म्मनीति के सम्बन्ध में एपिक्टेटस के उपदेश का सार यह है—"मृत्यु प्रभृति जो घटनाएँ अनिवार्य हैं, जो हम लोगों के अधिकार में नहीं हैं, उन्हें शुभ भी नहीं कह सकते और अशुभ भी नहीं कह सकते। जो हम लोगों की इच्छा के अधीन है, उसी पर हमारा शुभाशुभ, धर्म्मा-धर्म्म, प्रकृत सुख-दुःख निर्भर करता है। अतएव जो अनिवार्य, अपरिहार्य है, उसको अविचलित चित्त से धीरतापूर्वक सह लेना होगा; और हमारी विवेक-बुद्धि हम लोगों को जिस पथ पर चलने को कहेगी, इच्छाशक्ति के बल से दृढ़ता के साथ उसी पथ का अनुसरण करना होगा।" एपिक्टेटस की नीति पद्धति धर्म्म पर—ईश्वर-भक्ति पर—प्रतिष्ठित है। उनका उपदेश शुष्क ज्ञान का उपदेश नहीं है—आचरण के साथ उसका घनिष्ट संयोग है। इनके उपदेशों में अदृष्ट और पुरुष-कार का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने बार-बार कहा है, बातों से ही नहीं, कार्य के द्वारा तत्त्वज्ञान के उपदेशों को अपने जीवन में परिणत करना होगा।

विषय पृष्ठ-संख्या

आत्मोपदेश

तत्त्वज्ञान का आरम्भ

१ यदि तुम अच्छे होना चाहते हो तो पहले अपने बुरे होने का दृढ़ विश्वास कर लो।

२ जो लोग प्रकृत उपाय से तत्त्वज्ञान में यथारीति प्रवेश करना चाहते हैं, कम-से-कम उन लोगों को यह जान लेना उचित है कि अपनी दुर्बलता तथा प्रयोजनीय द्रव्यों के अर्जन करने में अपनी असमर्थता का भाव अपने मन में लाना ही तत्त्वज्ञान का आरम्भ है।

३ जिस समय हम लोग इस पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं उस समय ज्यामिति के समकौणिक त्रिभुज, संगीत के कोमल, अति कोमल स्वर—इन सब विषयों के सम्बन्ध में हम लोगों की कोई भी सहज स्वाभाविक धारणा नहीं होती। परन्तु लगातार विद्या की शिक्षा के फल से हम लोग पीछे इन सब विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। और देखो, जो लोग इन विषयों के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते वे ऐसा समझते भी नहीं कि हम जानते हैं। किन्तु अच्छा-बुरा, सुख-दुख, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य—ऐसा कौन मनुष्य है जो इन सब विषयों का स्वाभाविक संस्कार लेकर जन्म ग्रहण नहीं करता? इसी तरह हम लोग सभी इन शब्दों का व्यवहार किया करते हैं और प्रत्येक विषय के साथ इन स्वाभाविक संस्कारों का मेल मिलाने की चेष्टा किया करते हैं। "अमुक मनुष्य ने अच्छा काम किया है," "ठीक किया है," "ठीक नहीं

किया," "अमुक मनुष्य अच्छा है," "अमुक अच्छा नहीं है"—हम लोगों में कौन ऐसा है जो इन सब वाक्यों का सदैव व्यवहार नहीं करता ? ऐसा कौन है जो इन सब वाक्यों का व्यवहार करने के लिए ज्यामिति या संगीत की भांति शिक्षा की अपेक्षा करता है ? इसका कारण यही है कि हम लोग पहले से ही इन सब विषयों में शिक्षित होकर—इनका स्वाभाविक संस्कार लेकर—जन्म ग्रहण करते हैं, और आरम्भ में इन संस्कारों को प्राप्त करके पीछे इनमें अपना मतामत भी मिला देते हैं।

यदि किसी को कहा जाय कि तुम्हारा यह काम करना अच्छा नहीं हुआ, तो सम्भवतः वह कहेगा—"क्यों, अच्छा या बुरा किसे कहते हैं, यह क्या मैं नहीं जानता ?—इस सम्बन्ध में क्या मेरी कोई धारणा नहीं है ?"

"हाँ, यह ठीक है कि तुम्हें इसकी धारणा है।"

"और क्या मैं इस धारणा का प्रत्येक विषय में पृथक्-पृथक् प्रयोग नहीं करता ?"

"हाँ, तुम प्रयोग किया करते हो।"

"तब क्या मैं ठीक तरह से प्रयोग नहीं करता ?"

इसी जगह असली प्रश्न आकर उपस्थित होता है और इसी जगह अपना कल्पित मतामत मिलाने का अवसर आता है। जो सब विषय सर्व्ववादि-सम्मत हैं उन्हीं से विचार का आरम्भ करके हम भ्रान्त प्रयोग द्वारा वादविवाद के विषय की अवतारणा करते हैं। "तुम लोग समझते हो कि तुम अपने स्वाभाविक संस्कारों का प्रत्येक विषय में पृथक्-पृथक् ठीक तौर से प्रयोग किया करते हो; अच्छा, तुम लोगों के ऐसे विश्वास का कारण क्या है ?"

"कारण, मेरे मन में आता है कि यह ठीक है।"

"किन्तु और एक आदमी के मन में जो यह दूसरी तरह का मालूम होता है इसकी मीमांसा कैसे करते हो ? वह भी क्या अपने मनमें अपने प्रयोग को ठीक नहीं समझता।"

"हाँ, वह ठीक ही समझता है।"

"अच्छा, तब जिन विषयों में तुम दोनों के मत परस्पर-विरोधी हैं उन सब विषयों में क्या तुम दोनों ने अपने-अपने स्वाभाविक संस्कारों का ठीक रीति से ही प्रयोग किया है ?

"नहीं, ऐसा हो नहीं सकता।"

"तब क्या तुम ऐसा कुछ दिखा सकते हो जो तुम्हारे मन में आने की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक हो ? एक पागल भी तो कहता कि वह जो अपने मन में समझता है सो ठीक है। उसके पक्ष में क्या यह मन में आने की युक्ति यथेष्ट समझी जा सकती है ?"

"नहीं, यह यथेष्ट नहीं है।"

"अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जो "मन में आने" की अपेक्षा अधिक मान्य है, वह क्या है ?"

४ अच्छा, अब देखो कि तत्त्वज्ञान का आरम्भ कहाँ से होता है। किस कारण से लोग परस्पर-विरुद्ध मत अवलम्बन करते हैं, कहाँ से यह परस्पर-विरोध उत्पन्न होता है, मतमात्र ही विश्वासयोग्य है या नहीं, इन्हीं सब का सम्यक् रूप से दर्शन करना—निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त करना—दर्शनशास्त्र का आरम्भ है। जो मन में मालूम होता है वह ठीक है या नहीं, और हम लोग जैसे तराजू के द्वारा ठीक तौल जानते हैं, सूत धर कर जैसे टेढ़े या सीधे का निर्णय करते हैं, उसी प्रकार इन स्वाभाविक संस्कारों

के प्रयोगों के सम्बन्ध में कोई निर्दिष्ट नियम है या नहीं, इसी का अनुसन्धान करना तत्त्वज्ञान की पहली सीढ़ी है। जो मेरे मन में होता है, क्या वही ठीक है? यदि ऐसा हो तो जो सब विषय परस्पर-विरोधी हैं, वे सभी किस तरह ठीक हो सकते हैं?

"जो मन में होता है वही ठीक है। यह बात मैं नहीं कहता। ठीक समझकर जिस पर मेरा विश्वास होता है वही ठीक है।"

"तुम जिसको ठीक समझते हो उसीके सम्बन्ध में दूसरे आदमी का ठीक उलटा विश्वास हो सकता है। अतएव सब विषय में "मन में होने" और "वास्तविक होने" की बात एक नहीं हो सकती। देखो, वजन अथवा माप के समय हम लोग "मन में होने" के ऊपर निर्भर नहीं रहते—उससे सन्तुष्ट नहीं होते। उन दोनों अवसरों पर हम लोग एक निर्दिष्ट नियम का अनुसरण करते हैं। तब क्या केवल तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में "मन में होने" के सिवा और कोई नियम नहीं है? और यह क्या कभी हो सकता है कि जो मनुष्य के लिए सबसे अधिक आवश्यक विषय है उसीका कोई प्रमाण नहीं—आविष्कार का कोई उपाय भी नहीं हो? अवश्य ही उसका निर्दिष्ट नियम है—प्रमाण है। वह नियम क्या है, इसका पता लगाने की चेष्टा करो। उसका पता लगा सकने पर सब प्रकार का पागलपन दूर हो जायगा। ऐसा होने पर हम फिर कभी मानसिक धारणारूपी भ्रमपूर्ण तराजू पर वस्तु-समूह को नहीं तौलेंगे।

५ हम लोग आजकल किस विषय का तत्त्वानुसन्धान करते हैं?—सुख का? अच्छा, तब उसको उसी नियम के हाथ में समर्पण करो—उसी तराजू पर रखो।

"अच्छा, श्रेय एक ऐसा विषय है या नहीं जिसके ऊपर निर्भर रहना हम लोगों का कर्त्तव्य हो ?"

"निश्चय ही श्रेय के ऊपर निर्भर रहना मनुष्य का कर्त्तव्य है।"

"और श्रेय पर विश्वास करना उचित है या नहीं ?"

"हाँ, विश्वास करना उचित है।"

"अच्छा, जो अस्थायी है उस पर हम लोग निर्भर रह सकते हैं या नहीं ?"

"नहीं, नहीं रह सकते।"

"अच्छा, सुख का क्या कुछ स्थायित्व है ?"

"नहीं, स्थायित्व नहीं है।"

अच्छा, तब सुख को अर्थात् प्रेय को श्रेय के स्थान से हटा कर तराजू से उतार फेंको। किन्तु यदि तुम्हारे ज्ञान-चक्षुओं की दृष्टि क्षीण और अस्पष्ट हो, यदि केवल इसी एक तराजू की जाँच को यथेष्ट नहीं समझते हो, तो एक और तराजू पर तौल लो।

"जो श्रेय है उसी में आनन्द लाभ करना ठीक है या नहीं।"

"हाँ, यही ठीक है।"

"और सुख की सामग्रियों में आनन्द लाभ करना क्या ठीक है ?"

इन सब विषयों को तराजू पर ठीक तरह से तौल कर तब उत्तर देना।

नियम का तराजू यदि तुम्हारे हाथ में हो तो तुम्हारे लिए इन सब विषयों का विचार करना—तौलना सहज हो जायगा।

इन सब नियमों की परीक्षा करना—स्थापन करना—ही तत्त्वविद्या का मुख्य उद्देश्य है। और इन नियमों के आविष्कृत

होने पर अपने जीवन में उनका व्यवहार करना ही तत्त्वज्ञानी साधुजनों के लिए कर्त्तव्य है।

स्वाभाविक संस्कार और विवेकबुद्धि

स्वाभाविक संस्कार-समूह मनुष्यमात्र की साधारण सम्पत्ति हैं और वे सर्ववादिसम्मत हैं। उनके विषय में कभी मनुष्य में परस्पर विरोध उपस्थित नहीं होता, क्योंकि हम लोगों में कौन इस बात को स्वीकार नहीं करता कि जो श्रेय है वही उपादेय है और श्रेय को ही वरण करना—उसका अनुसरण करना—हम लोगों का कर्त्तव्य है। तब परस्पर–विरोध किस समय उपस्थित होता है?—परस्पर-विरोध उसी समय उपस्थित होता है जब हम लोग इन स्वाभाविक संस्कारों का विशेष-विशेष विषयों में प्रयोग करने लगते हैं।

अच्छा, तब शिक्षा किसे कहते हैं?—प्रकृति का अनुसरण करके, इन स्वाभाविक संस्कारों का विशेष-विशेष विषयों में प्रयोग करने की रीति सीखना प्रकृत शिक्षा है और इसके सिवा इस बात का निर्णय करना भी, कि कौन-कौन वस्तुएँ हम लोगों के आयत्ताधीन हैं और कौन-कौन हम लोगों के आयत्ताधीन नहीं हैं। हम लोगों की इच्छा और हमारे इच्छाकृत कार्य ही हम लोगों के आयत्ताधीन हैं। बाह्य वस्तुएँ और हम लोगों की बाह्य अवस्था सम्पूर्णरूप से हम लोगों के आयत्ताधीन नहीं हैं। उनके ऊपर हम लोगों का मङ्गल-अमङ्गल निर्भर नहीं करता। जो हम लोगों के आयत्ताधीन है—हम लोगों की उसी इच्छा के ऊपर ही हम

लोगों का मङ्गल-अमङ्गल अवलम्बित है। इच्छा-शक्ति का प्रयोग करके ही हम लोग श्रेय के पथ पर अग्रसर होते हैं। प्रवृत्ति हम लोगों को स्वार्थसाधन की ओर—अस्थायी तुच्छ सुख की ओर—प्रेय की ओर—ले जाती है। स्वार्थसाधन अथवा प्रेय ही यदि हमारे जीवन का पथप्रदर्शक हो तो ऐसा होने से हम लोग अन्त में कहाँ जा पहुँचेंगे? एक टुकड़ा जमीन रखना अगर हमारा स्वार्थ हो, तो उस जमीन को अपने पड़ोसी से छीन लेना भी हमारा स्वार्थ होगा। यदि एक टुकड़े कपड़े से हमारा स्वार्थसाधन हो, तो उसे चुराकर ले आना भी हमारे स्वार्थ के अनुकूल होगा। इसी भ्रान्त धारणा के कारण तो पृथ्वी पर इतने युद्ध, विग्रह, विद्रोह, विप्लव, प्रजापीड़न और षड्यंत्र हुआ करते हैं। सांसारिक सुख-दुःख के ऊपर ही यदि हम लोगों का शुभाशुभ अवलम्बित हो, तो ईश्वर के प्रति अपने मन को प्रकृत पथ पर हम लोग किस प्रकार रख सकेंगे? कारण, यदि हम क्षतिग्रस्त हों, दुःख दुर्दशा भोग करें, तो ऐसा होने से ही हम कहेंगे कि ईश्वर हमारी अवहेलना करते हैं। वाह्य विषयों पर ही यदि श्रेय की प्रकृति और श्रेय का श्रेयत्व निर्भर करें, तब तो ईश्वर के प्रति हम लोगों के मन का भाव इस प्रकार ही होगा। अतएव ऐहिक सुख-दुःख पर हम लोगों का शुभाशुभ निर्भर नहीं रहता; जो हमारे आयत्ताधीन है उसी इच्छा के प्रयोग पर हम लोगों का प्रकृत शुभाशुभ निर्भर रहता है।

हम लोगों की जितनी मनोवृत्तियाँ हैं उनमें से एक मनोवृत्ति आप ही अपनी आलोचना किया करती है—आप ही अपने को अच्छी कहती है अथवा बुरी कहती है। इस तरह को आत्म-

दृष्टि क्या व्याकरण को है ?—नहीं, व्याकरण केवल शब्द के सम्बन्ध में ही विचार कर सकता है। और संगीत ?—सङ्गीत केवल स्वर के सम्बन्ध में ही विचार कर सकता है। इन दोनों में से कोई भी क्या आप अपनी आलोचना कर सकता है ?—नहीं, कोई भी ऐसा नहीं कर सकता। तुम्हें अपने मित्र को जब पत्र लिखने की आवश्यकता होती है, तब व्याकरण यह बता देता है कि किस प्रकार उसे पत्र लिखना होगा। सङ्गीत के सम्बन्ध में भी यही बात है। तुम्हें इस समय पत्र लिखना उचित है अथवा उचित नहीं है, गाना उचित है या बजाना उचित है, यह सब बातें व्याकरण अथवा सङ्गीत नहीं बता सकता। तब कौन बता-वेगा ?—तुम्हारी वही मनोवृत्ति बतावेगी जो आप अपनी आलो-चना करती है और दूसरे सब विषयों की भी आलोचना किया करती है। वह विवेकबुद्धि है। विवेकबुद्धि के सिवा और कोई भी वृत्ति आप अपनी आलोचना नहीं कर सकती। अर्थात् वह स्वयं क्या पदार्थ है ? वह स्वयं क्या कर सकती है ? उसका मूल्य क्या है ? इन सब विषयों की अन्य वृत्ति आलोचना नहीं कर सकती और यह वृत्ति जैसे आप अपनी आलोचना करती है, उसी प्रकार अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी आलोचना किया करती है। कोई एक सोने की वस्तु सुन्दर है, यह और कौन कह सकता है ? सोने की वस्तु स्वयं तो यह बात कहती नहीं। अतएव स्पष्ट ही देखा जाता है कि यह वृत्ति बाहरी विषयों में भी प्रयुक्त होती है। व्याकरण के सम्बन्ध में, सङ्गीत के सम्बन्ध में तथा अन्यान्य मनोवृत्तियों के सम्बन्ध में तब कौन विचार किया करता है ? कौन उन सब के प्रयोगस्थलों का निश्चय कर

देता है ? कौन किस समय के लिये उपयोगी है, यह कौन बता देता है ?—वह विवेक-बुद्धि के सिवा और कोई भी नहीं है ।

ईश्वर ने इस विवेकशक्ति को ही हम लोगों के अधीन कर दिया है । इसके द्वारा ही हम लोग बाह्य विषयों का समुचित रूप से व्यवहार किया करते हैं । किन्तु अन्य विषय-समूह हम लोगों के आयत्ताधीन नहीं हैं । बाहरी वस्तुएँ हम लोगों के रक्त-मांस के साथ जकड़ी हुई हैं, वे सब क्या हम लोगों को बाधा न देंगी ? यह शरीर तो एक प्रकार का नश्वर मृत्पिण्डविशेष है । इसी से देवता लोग कहते हैं कि अवश्य ही इस शरीर को तुम्हारे आयत्ताधीन नहीं कर सकते, किन्तु हम लोगों ने अपना अंश तुम्हें दिया है ।

वह क्या है ?—निर्वाचन करना—ग्रहण करना अथवा नहीं ग्रहण करना; अनुसरण करना अथवा त्याग करना—संक्षेप में कहा जाय तो बाह्य विषयों का यथायोग्य व्यवहार करने की शक्ति तुम्हें दी है । इस शक्ति की यत्नपूर्वक रक्षा करो, इस शक्ति को ही अपनी सम्पत्ति समझ कर इसका व्यवहार करो, ऐसा करने से और बाधा नहीं पाओगे, भारग्रस्त नहीं होओगे, पश्चात्ताप नहीं करना होगा, किसी की निन्दा अथवा स्तुति न करनी पड़ेगी । यह दान क्या सामान्य दान है ? इससे क्या तुम सन्तुष्ट नहीं हो ? ईश्वर से प्रार्थना करो कि हम लोग इसी से सन्तुष्ट रह सकें । जो एक विषय हम लोगों के आयत्ताधीन है उसी की यत्नपूर्वक रक्षा करना—उसी में आसक्त होना ही हम लोगों का कर्त्तव्य है । किन्तु ऐसा न करके हम लोग अनेक विषयों में अपने को आबद्ध करते हैं । स्त्री, पुत्र, धन, जन आदि

में हम लोग आसक्त हो जाते हैं और इस प्रकार भारग्रस्त होकर हम लोग रसातल की ओर आकृष्ट होते हैं। यदि हमारे अनुकूल वायु नहीं चलती तो हम लोग हताश होकर सतृष्णभाव से उसकी प्रतीक्षा किया करते हैं। अभी उत्तर की हवा वहती है, उससे हमारा क्या होता जाता ? पश्चिमी हवा कब चलेगी ?—जब पवन देव की कृपा होगी। हवा के मालिक तो तुम नहीं हो—वह हैं पवनदेव। तब इस समय हम लोग क्या करेंगे ? जो हम लोगों की अपनी वस्तु है उसकी किस प्रकार उन्नति होगी—सद्व्यवहार होगा—उसी का यत्न करना हम लोगों का कर्त्तव्य है। और ईश्वर ने जिसकी जैसी प्रकृति दी है उसके अनुसार ही अन्य सब वस्तुओं का व्यवहार करना उसके पक्ष में युक्ति-संगत है।

शरीर जैसे वैद्य का प्रयोग-स्थल है, पृथ्वी जैसे किसान का प्रयोग-स्थल है, यह विवेकबुद्धि वैसे ही तत्त्वज्ञानी साधुजनों का प्रयोगस्थल अर्थात् साधन-क्षेत्र है। और प्रत्येक पदार्थ का अपनी प्रकृति के अनुसार व्यवहार करना ही उनका कार्य है। जो अच्छा है उसका ग्रहण करना, जो बुरा है उसका त्याग करना और जो अनिश्चित है उसके विषय में उदासीन रहना यही आत्मामात्र की प्रकृति है। विक्रेता के हाथ में उचित मूल्यस्वरूप देश की प्रचलित मुद्रा देने से जिस प्रकार वह खरीदार को उसके बदले में इच्छित पण्य द्रव्य देने को बाध्य है, उसी प्रकार आत्मा के निकट श्रेय के उपस्थित होने पर आत्मा उसे ग्रहण किये विना रह नहीं सकती। हम लोग अपनी इच्छा का किस प्रकार प्रयोग करें, किस ओर उसे ले जायँ, इसी के विवेचन पर हम लोगों का मङ्गल या अमङ्गल निर्भर रहता है। तब हम लोग दूसरे विषयों

के लिए क्यों इतने व्याकुल होते हैं ? जो तुम्हारे आयत्ताधीन है—जो तुम्हारा अपना धन है—उसी को दृढ़ता से धरे रहो; जो तुम्हारे आयत्ताधीन नहीं—जो तुम्हारा अपना नहीं है उसका लोभ मत करो—उसमें आसक्त मत होओ। भक्ति तुम्हारी अपनी सम्पत्ति है—श्रद्धा तुम्हारी अपनी सम्पत्ति है—उससे कौन तुम्हें वञ्चित कर सकता है, यदि तुम अपनी इच्छा से उससे वञ्चित न होओ। जो तुम्हारी अपनी वस्तु नहीं है उसमें आसक्त होने से तुम केवल बाधा पाओगे, भारग्रस्त होओगे, उद्विग्न होओगे, पश्चात्ताप करोगे, ईश्वर और मनुष्य के प्रति दोषारोपण करोगे। किन्तु यदि तुम उसमें आसक्त न होओ, तो कोई भी बाधा नहीं दे सकेगा, तुम्हारे ऊपर कोई बलप्रयोग नहीं कर सकेगा, कोई तुम्हारी हानि नहीं कर सकेगा, कोई तुम्हारा शत्रु नहीं होगा, और किसी से भी तुम क्षतिग्रस्त नहीं होओगे। किन्तु यह साधन का विषय है—इसमें सिद्धि प्राप्त करने के लिये तुम्हें कितने ही पदार्थों का एकदम परित्याग करना होगा। उच्च उद्देश्य के साधन के लिए कतिपय नीच उद्देश्यों का विसर्जन करना होगा। यदि मुक्ति चाहो, मंगल चाहो, तो नीच सुख और स्वार्थ का विसर्जन करना होगा। यदि कोई वस्तु तुम्हें कठोर मालूम हो तो उसे देखकर इस प्रकार कहने का अभ्यास करो—"देखने में तुम जैसे मालूम होते हो वास्तव में तुम वैसे नहीं हो ?" इसके बाद परीक्षा करके उसे देखो, विशेषतः यह देखो कि वह तुम्हारे आयत्ताधीन है या नहीं। यदि वह तुम्हारे आयत्ताधीन न हो, तो यह समझो कि जब वह मेरी अपनी वस्तु नहीं है तब उससे मेरा कुछ भी होने का नहीं।"

तत्त्वज्ञान का पथ

एक बार कोई एक रोम-निवासी अपने पुत्र को साथ लेकर एपिक्टेटस का उपदेश सुनने गया। एपिक्टेटस ने कहा "इसी प्रकार की हमारी उपदेश-पद्धति है" और इतना ही कह कर वह चुप हो रहा। किन्तु आगन्तुक मनुष्य ने जब उनसे पुनः उपदेश देने के लिए अनुरोध किया तब उन्होंने फिर इस प्रकार कहना आरम्भ किया:—

१—जो लोग शिक्षित और चतुर नहीं हैं वे पहले-पहल जब कोई विद्या सीखना आरम्भ करते हैं तब उन्हें वह अत्यन्त कठिन बोध होती है। किन्तु उस विद्या के द्वारा जो सामग्री प्रस्तुत होती है उसकी आवश्यकता और लाभकारिता तत्काल सब लोगों को प्रत्यक्ष देखने में आती है और उन सब सामग्रियों के भीतर प्रायः कुछ ऐसे गुण भी होते हैं जो चित्ताकर्षक और प्रीतिजनक हों। कोई चमार जिस समय जूता बनाता है उस समय यदि कोई आदमी वहाँ खड़ा होकर उसका काम देखे तो देखने से उसे सुख नहीं होगा, किन्तु वास्तव में जूता एक काम की चीज है और तैयार होने पर देखने में भी वह बुरा नहीं मालूम होता। इसी प्रकार बढ़ई का काम भी खड़े-खड़े देखने से बहुत कष्टकर प्रतीत होता है, किन्तु काम पूरा हो जाने पर उसकी उपयोगिता तत्काल ही मालूम हो जाती है। सङ्गीतशिक्षा के सम्बन्ध में यह बात और भी अधिक घटती है। संगीतशिक्षा का उपदेश सुनना अत्यन्त कष्टकर होता है, किन्तु सङ्गीत किसे अच्छा नहीं लगता? अशिक्षित व्यक्ति भी उसकी माधुरी पर मुग्ध हो

जाता है। जो लोग तत्त्वज्ञान सीखते हैं उनका भी एक विशेष उद्देश्य होता है। मुझे समस्त बाहरी घटनाओं के साथ अपनी इच्छा को इस प्रकार मिलाना होगा जिसमें मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई घटना न हो अथवा मैं जो इच्छा करूँ उसके सिवा और कोई घटना होने न पावे। इसी शिक्षा और साधन के फल से तत्त्वज्ञानी जिस वस्तु की इच्छा करते हैं उसे ही प्राप्त करते हैं और जिसकी इच्छा नहीं करते उसका त्याग कर सकते हैं। इस प्रकार वे बिना कष्ट, भय, और उद्वेग के जीवन व्यतीत करते हैं। यह तो तत्त्वज्ञानियों का काम है। किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि यह कार्य किस उपाय से सिद्ध किया जा सकता है?

२—बढ़ई जो बढ़ई होता है सो कुछ सीखकर ही होता है, नाविक जो नाविक होता है सो भी कुछ सीख करके ही होता है। तत्त्वज्ञानी के सम्बन्ध में तब क्या यह बात नहीं घटती? हम लोग अच्छे होंगे, ज्ञानी होंगे—यह क्या केवल इच्छा करने से ही हो जायगा? नहीं, उसके लिये एक विशेष प्रकार की शिक्षा चाहिए—साधना चाहिए। अच्छा तो अब यह देखना चाहिए कि पहले हम लोगों को कैसी शिक्षा प्राप्त करनी होगी।

३—तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं कि सब से पहले यह बात जाननी चाहिए कि ईश्वर हैं, वह सभी पदार्थों का निरीक्षण करते हैं। क्या कार्य, क्या चिन्ता, क्या कामना—कुछ भी उनसे छिपाया नहीं जा सकता। इसके बाद यह जानना होगा कि देवताओं का क्या स्वभाव है? देवताओं की प्रकृति जैसी निश्चित होगी, यथासाध्य उनकी सेवा और तुष्टिसाधन करके भक्त लोग उनके अनुरूप होने की चेष्टा करेंगे। यदि देवता सत्यनिष्ठ हो,

तो उन लोगों को भी सत्यनिष्ठ होना होगा; यदि वह मुक्त हों तो उन लोगों को भी मुक्त होना होगा; यदि वह शुभङ्कर हों, तो उन लोगों को भी शुभङ्कर होना होगा; यदि वह महानुभाव हों तो उन लोगों को भी महानुभाव होना होगा। इसी प्रकार देवताओं के समकक्ष होने की चेष्टा करनी होगी, उसी प्रकार की बातें कहनी होंगी और वैसे ही कार्य करने होंगे।

४—अच्छा तो पहले किस जगह से आरम्भ करना होगा? मैं कहता हूँ कि पहले वाक्य के अर्थ के प्रति ध्यान दो।

"तो क्या मैं वाक्यार्थ नहीं समझता?"

"नहीं, तुम नहीं समझते।"

"तब मैं वाक्य का व्यवहार किस प्रकार करता हूँ?"

अशिक्षित लोग जिस प्रकार लिखित वाक्य का व्यवहार करते हैं अथवा गाय-भैंस आदि जिस प्रकार बाहरी पदार्थों का व्यवहार करती हैं, तुम भी उसी तरह व्यवहार करते हो। कारण, व्यवहार करना एक बात है और समझना दूसरी बात है। यदि तुम्हारा यह ख्याल हो कि तुम वाक्यार्थ समझते हो तो अच्छी बात, किसी एक वाक्य को लेकर देखा जाय कि तुम उसका अर्थ समझते हो या नहीं। किन्तु तुम्हारे जैसे वृद्ध मनुष्य के लिए हार मानना कष्टकर होगा। मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि तुम यहाँ इस तरह से आये हो, जैसे तुम्हें किसी वस्तु का अभाव न हो। हाँ, तुम खयाल करते हो कि तुम्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं है। तुम्हारे धन-ऐश्वर्य है, सन्तान-सन्तति है, सम्भवतः स्त्री भी है, अनेक दास-दासियाँ भी हैं, सीजर तुम्हें जानते हैं, रोम में तुम्हारे अनेक बन्धु-बान्धव हैं, यथायोग्य रूप से तुम

अपने अधीनस्थ मनुष्यों के दण्ड और पुरस्कार की व्यवस्था किया करते हो—जो अच्छा काम करता है उसकी भलाई करते हो और जो बुरा काम करता है उसकी बुराई करते हो। और तुम्हें क्या चाहिए ? अब यदि मैं तुम्हें दिखा दूँ कि प्रकृत सुख के लिए तुम्हें जिन सब वस्तुओं की अत्यन्त आवश्यकता है उनमें से कोई भी तुम्हारे पास नहीं है; और जो सब पदार्थ तुम्हारे लिये अत्यन्त आवश्यक हैं, केवल उन्हीं सब को छोड़कर बाक़ी समस्त वस्तुओं का तुम अबतक अनुसरण करते आये हो। ईश्वर क्या पदार्थ है, मनुष्य क्या पदार्थ है, अच्छा किसे कहते हैं, बुरा किसे कहते हैं; यह तुम नहीं जानते। यह सब यदि मैं तुम्हें दिखा दूँ तो तुम्हें असह्य होगा। यदि मैं दूसरी वस्तुओं के सम्बन्ध में कहूँ कि तुम कुछ नहीं जानते, तो शायद वह तुम्हें सह्य हो जाय; किन्तु यदि मैं कहूँ कि तुम अपने को ही आप नहीं जानते, तो तुम्हें कभी सह्य नहीं होगा; ऐसा होने से तुम नाराज़ होकर यहाँ से चले जाओगे। किन्तु यह बात कहकर क्या मैंने तुम्हारी कोई बुराई की ? एक कुरूप मनुष्य के सामने आईना रखने से क्या उसकी बुराई होती है ? एक चिकित्सक जब किसी रोगी को कहता है—"बाबू, क्या तुम समझते हो कि तुम्हें पीड़ा नहीं हुई है ? मैं देखता हूँ कि तुम्हें ज्वर हुआ है। आज कुछ भोजन मत करना, केवल जल पीकर रहना।" ऐसी बातें कहने पर कोई रोगी तो ऐसा नहीं कहता कि "तुमने मेरा अपमान किया।" किन्तु यदि किसी को कहा जाय—"तुम्हारी चेष्टाएँ चित्तदहनकारी हैं, तुम्हारे परित्यक्त विषय-समूह नीचतासूचक हैं, तुम्हारे सब उद्देश्य नीतिविरुद्ध हैं, तुम्हारे हृदय के

आवेग-समूह प्रकृति के साथ मेल नहीं खाते, तुम्हारे सब मता-मत शून्यगर्भ और मिथ्या हैं" तो वह उसी क्षण बोल उठेगा—"इस आदमी ने मेरा अपमान किया है।"

५—किसी एक बड़े मेले में लोग जिस प्रकार से कार्य करते हैं हम लोग भी संसार में ठीक उसी प्रकार से कार्य किया करते हैं। मेले में गाय-भैंस आदि बिक्री के लिये लाये जाते हैं, अधिकांश मनुष्य भी कोई खरीदने के लिए और कोई बेचने के लिए आते हैं। केवल मेला देखने के लिए कम लोग आया करते हैं। किस-लिए मेला स्थापित हुआ है, कौन इसका स्थापन-कर्ता है, उसमें क्या काम होते हैं, इन सब तत्त्वों को जानने के लिए बहुत ही कम लोग आते हैं। इस भव-मेला में भी ऐसा ही होता है। गाय-भैंस आदि की तरह कोई-कोई केवल घास-दाना खाने में ही व्यस्त रहते हैं। जो लोग केवल धन-जन-ऐश्वर्य्य का ही भोग करते हैं वे गाय, भैंस आदि की तरह केवल घास-दाना ही नहीं खाते तो और क्या ? केवल दर्शन का सुख प्राप्त करने के लिए कम लोग आते हैं। संसार क्या पदार्थ है, संसार का कर्त्ता कौन है, यह तत्त्व जानने के लिये बहुत ही कम लोग उत्सुक होते हैं।

कोई एक छोटा राज्य, कोई एक सामान्य घर, मालिक के बिना, रक्षक के बिना, क्षणकाल भी क़ायम नहीं रह सकता। तब क्या यह इतना बड़ा विश्व-निकेतन केवल दैवद्वारा, आक-स्मिक घटना-समूह द्वारा ऐसे उत्तम सुव्यवस्थित रूप से परिचा-लित होता है ? अतएव देखा जाता है कि जगत के एक कर्त्ता अवश्य हैं। किन्तु उनका रूप कैसा है ? किस प्रकार वह शासन करते हैं ? और हमी लोग क्या पदार्थ हैं ? किस उद्देश्य से हम

लोग उत्पन्न किये गये ? ईश्वर के साथ हम लोगों का कोई बन्धन-सूत्र है अथवा कुछ भी नहीं है ?

जो अल्प-संख्यक मनुष्य इन सब तत्त्वों के अनुसन्धान में लगे रहते हैं, साधारण लोग उनका उपहास करते हैं। मेले में भी दुकानदार लोग दर्शक लोगों का इसी प्रकार उपहास करते हैं, और गाय-भैंस आदि को भी यदि चिन्ताशक्ति होती तो वे भी प्रदर्शकों का इसी प्रकार उपहास करते; वे निश्चय ही कहते कि इन मूर्खों ने यहाँ आकर यदि घास-दाना का उपभोग नहीं किया, तो यहाँ आने से उन्हें लाभ ही क्या हुआ ?

नव शिक्षार्थी के प्रति

१—इस बात को सदैव स्मरण रखना कि किसी वस्तु-विशेष को पाने के लिए ही हम लोग उसका अनुसरण किया करते हैं और किसी वस्तु से बचने के लिए ही हम लोग उसका त्याग करते हैं। जो आदमी अपनी शक्ति भर उद्योग करके भी उद्दिष्ट वस्तु को पा नहीं सकता और जो आदमी किसी वस्तु से बचने का यत्न करता हुआ भी उस वस्तु के बीच में जा पड़ता है, वह दोनों ही मनुष्य अभागे हैं।

जो सब वस्तुएँ तुम्हारे आयत्ताधीन और प्राकृतिक नियम की विरोधी हैं, उनसे यदि अलग रहने की तुम चेष्टा करो, तो तुम सफल हो सकोगे। किन्तु जो तुम्हारे आयत्ताधीन नहीं हैं और जो प्रकृति के अपरिहार्य धर्म हैं—उन दुःख, कष्ट और

मृत्यु को तुम किसी तरह भी टाल नहीं सकोगे। अतएव उसकी चेष्टा से विरत रहना।

२—कोई वस्तु एकाएक उत्पन्न नहीं होती। और क्या, एक गुच्छा अंगूर और गूलर का फल भी एकाएक उत्पन्न नहीं होता। यदि तुम मुझसे कहो कि "मैं अभी एक गूलर खाना चाहता हूँ" तो इसके उत्तर में मैं कहूँगा—"पहले गूलर का फूल हो, उसके बाद फल हो, उसके बाद वह फल पक ले, इत्यादि।" जब देखा जाता है कि एक साधारण गूलर का फल भी एक बारगी एक घंटे के भीतर ही पूर्णता को प्राप्त नहीं होता, तब क्या तुम ऐसी आशा कर सकते हो कि मनुष्य के मन का फल इतना शीघ्र और इतने सहज में हस्तगत होगा? मैं यदि तुम्हें कहूँ कि, "हाँ, होगा" तो भी तुम उसकी प्रत्याशा मत करना।

३—मनुष्य-जीवन के प्रकृतिगत उद्देश्य को सिद्ध करना भी एक साधारण बात नहीं है। क्योंकि, "मनुष्य किसको कहते हैं?" तुम कहोगे कि "जो जीव प्राणवान् है, जो मरणाधीन है और जो विवेक-बुद्धि-सम्पन्न है वही मनुष्य है।"

"अच्छा, विवेक-बुद्धि रहने के कारण मनुष्य किससे भिन्न है?"

"वन के हिंस्र जन्तुओं से।"

"और किससे भिन्न है?"

"गाय, भैंस आदि से।"

तब देखो, तुम हिंस्र जन्तुओं की तरह कोई काम न करना। कारण, तुम यदि उस तरह के काम करोगे तो तुम्हारे भीतर जो मनुष्यत्व है वह विनष्ट होगा, तुम्हारे मानव-जीवन का उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। जिस समय हम लोग कलह, विवाद करते हैं,

परस्पर की हानि करते हैं, क्रोध से उन्मत्त होते हैं, उग्र चण्ड-मूर्त्ति धारण करते हैं, उस समय हम लोग कितना नीचे गिर जाते हैं ? उस समय हम लोग हिंस्र जन्तुओं के समान हो जाते हैं। जिस समय हम लोग लुब्ध, इन्द्रिय-परायण, कर्त्तव्याकर्त्तव्य-ज्ञान-शून्य होकर वीभत्स निन्दित कार्य में प्रवृत्त होते हैं, उस समय हम लोग कितना नीचे गिर जाते हैं ?—उस समय हम लोग गाय, भैंस आदि की तरह हो जाते हैं। इससे हम लोग क्या खोते हैं ? खोते हैं अपनी विवेक-बुद्धि। मनुष्य की जो असली चीज है उसीसे भ्रष्ट होते हैं।

४—वीणा यदि वीणा का काम न करे, वंशी यदि वंशी का काम न करे, तो ऐसी अवस्था में उनका रहना, न रहना, दोनों ही बराबर है। मनुष्य के संबन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। जिसका जो काम है उसी काम को जो जितना कर सकता है, वह उतना ही अपनेको बचा रखता है; जो जितना उससे बिच्युत होता है वह उतना ही आत्मविनाश करता है।

५—किसी विषय में दृढ़ विश्वास सहज में उत्पन्न नहीं होता। यदि कोई मनुष्य किसी एक ही विषय के सम्बन्ध में प्रतिदिन बातें कहे, बातें सुने और साथ-ही-साथ अपने जीवन के कार्य में भी उसका प्रयोग करे, तभी वह विश्वास उसके मन में बद्धमूल होता है।

६—प्रथम शिक्षार्थियों के लिए कोई महान् शक्ति प्राप्त करना विपद्-जनक है। "किन्तु मुझे तो प्रकृति के अनुसार चलना होगा।" रोगी मनुष्य के पक्ष में यह बात नहीं घटती। जिसमें पीछे तुम स्वस्थ मनुष्य की तरह रह सको, इस उद्देश्य से क्रम-

से-कम कुछ दिनों तक तुमको रोगी मनुष्य की तरह चलना होगा; जिससें तुम पीछे विवेक-बुद्धि के उपदेश के अनुसार ठीक तरह से चल सको। इस उद्देश से आरम्भ में उपवासादि व्रत और अन्यान्य कठोर नियमों का पालन करना होगा। तुम्हारे भीतर यदि कुछ अच्छा संस्कार हो और यदि तुम विवेक-बुद्धि की बात मान कर चलो, तो तुम जो काम करो वही अच्छा होगा।"नहीं, हम लोग ऋषि-मुनियों की तरह रहकर लोगों की भलाई करेंगे—लोगों के दोषों का संशोधन करेंगे।"

"लोगों की क्या भलाई करोगे? तुमने क्या अपनी कुछ भलाई की है? दूसरे के दोष का क्या संशोधन करोगे? तुमने अपने दोष का क्या संशोधन किया है? तुम यदि उन लोगों की भलाई करना चाहो, तो उनके पास जाकर बहुत-सा बकवाद मत करना; बल्कि तत्त्वज्ञान की शिक्षा के फल से किस प्रकार मनुष्य तैयार होता है, उसी का उदाहरण अपने जीवन में दिखाओ। जो लोग तुम्हारे साथ भोजन करते हैं वे जिसमें तुम्हारा भोजन देख कर अच्छे हो सकें; जो लोग तुम्हारे साथ पान करते हैं वे जिसमें तुम्हारा पान करना देखकर अच्छे हो सकें, तुम वैसा ही करो। आत्म-त्याग स्वीकार करो, सब को रास्ता दे दो, सबकी बातों और आचरणों को सह लो। इसी प्रकार से तुम उन लोगों की भलाई कर सकोगे; उन लोगों के ऊपर क्रोध उगलकर—उनपर कटु वाक्यों की वर्षा करके तुम उन लोगों की भलाई नहीं कर सकोगे।"

आत्मोन्नति की तीन सीढ़ियाँ

१—तत्त्वज्ञान तीन भागों में विभक्त है। जो लोग ज्ञानी और साधु होने की इच्छा रखते हैं उन्हें इन तीन विभागों में साधना और अभ्यास करना आवश्यक है।

विषय का अनुसरण और विषय का त्याग यह प्रथम विभाग का विषय है। जो मैं चाहता हूँ उसे प्राप्त करूँ, जो मैं नहीं चाहता उसके बीच में न जा पड़ूँ—यही हम लोगों की चेष्टा है।

अपने मन की वासना और विद्वेष—यही द्वितीय विभाग का विषय है। वासना या विद्वेष के वशवर्त्ती न होकर जो मनुष्योचित है उसी कार्य की ओर सावधानी, सुव्यवस्था और विवेचन सहित अग्रसर होना होगा। दिक्-विदिक् ज्ञान-शून्य होकर कोई कार्य नहीं करना होगा। इसी को चारित्र्य कहते हैं।

तीसरे विभाग का विषय यह है कि जिसमें विभ्रम उपस्थित न होने पावे, इस विषय में सतर्क रहना। सब विषयों को भीतर डूबकर देखने की चेष्टा करना; बाहरी आकार पर केवल न भूलना—यही विवेक बुद्धि है।

पहली बात—किसी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति अथवा किसी अप्रिय वस्तु का त्याग न कर सकने पर उसी से हम लोगों का दुःख-सुख उत्पन्न होता है। यह विषय बड़ा ही कठिन है। हम लोगों के समस्त उद्वेग, अशान्ति, दुःख-दुर्दशा, शोक-सन्ताप, विरह-विलाप का कारण यही है। इस मौक़े पर काम के वशवर्त्ती होकर हम लोग विवेक की बात नहीं सुन सकते।

दूसरी बात—जो-कुछ मनुष्योचित है वही हम लोगों को करना होगा। इसी कारण से पत्थर की मूर्त्ति की तरह हृदयशून्य होकर रहना नहीं होगा। ईश्वराधीन जीव का जो कर्त्तव्य है, पुत्र का जो कर्त्तव्य है, पिता का जो कर्त्तव्य है, नागरिक का जो कर्त्तव्य है—इन सभी कर्त्तव्य-समूहों का हम लोगों को पालन करना होगा। स्वाभाविक अथवा अर्जित जिस किसी सम्बन्ध के बन्धन में हम लोग आपस में आबद्ध हुए हैं उन सब सम्बन्धों की हम लोगों को यत्नपूर्वक रक्षा करनी होगी।

तत्त्वज्ञान में कुछ दूर तक अग्रसर होने पर हम लोग तृतीय विभाग के अधिकार के भीतर आ पड़ते हैं। अन्य दो विभागों के कार्य किस प्रकार सुरक्षित हो सकते हैं, किस प्रकार विना विघ्न-बाधा के सम्पादित हो सकते हैं, इसी का उपदेश इस तृतीय विभाग का विषय है। संक्षेप में इसका तात्पर्य यही है—किसी वस्तु को हम लोग विना परीक्षा के ग्रहण नहीं करेंगे; विना परीक्षा के किसी भी वासना के प्रलोभन को अपने मन में स्थान नहीं देंगे। क्या कोई कह सकता है कि यह हम लोगों के लिए असाध्य है ?

देखता हूँ कि आजकल के तत्त्वज्ञानी लोग उपर्युक्त दोनों विभागों को छोड़कर इस तीसरे विभाग को लेकर ही व्यस्त रहते हैं। उन लोगों का जो-कुछ तर्क-वितर्क, वाद-वितण्डा, सिद्धान्त-स्थापन और हेत्वाभास-प्रदर्शन है वह सब इसी विभाग को लेकर हुआ करता है। वह लोग कहते हैं कि सिद्धान्त-निर्णय के समय सतर्कता के साथ अपनेको विभ्रम से बचाना चाहिए। किन्तु जो

व्यक्ति ज्ञानी और साधु है वही अपने को विभ्रम से बचा सकेगा अथवा और कोई ?

२—तब क्या केवल अपनेको विभ्रम से बचाना—केवल एक यही तुम लोगों को अब करने के लिए बाक़ी है ? तुम लोगों के और सब कार्य हो चुके हैं ? तुम लोगों को क्या अब धन का लोभ नहीं होता ? किसी सुन्दरी स्त्री को देखकर क्या तुम विचलित नहीं होते ? तुम्हारा कोई पड़ोसी यदि उत्तराधिकार-सूत्र से किसी सम्पत्ति का अधिकारी हो तो क्या तुम्हारे मन में ईर्षा नहीं होती ? संक्षेपतः क्या और कुछ तुम लोगों के करने को बाक़ी नहीं है ? तुमने साधना से जो-कुछ प्राप्त किया है, क्या अब केवल उसको सुदृढ़ करने का ही तुम लोगों का एक-मात्र प्रयोजन है ?

हतभाग्य ! इन सब बातों को सुनते-सुनते ही वो तुम भीत और उद्विग्न हो रहे हो कि शायद पीछे कोई तुम्हारा अनादर करे । तुम यह जानने के लिये उत्सुक हो रहे हो कि कौन तुम्हारे संबन्ध में क्या बात कहता है । आज कल सर्व्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञानी कौन है ?—इस बात की आलोचना के समय यदि उस सभा में उपस्थित कोई आदमी तुम्हारा नाम लेकर कहे कि "अमुक व्यक्ति सर्व्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञानी है"—तो तुम मन-ही-मन फूलकर कुप्पा हो जाओगे । किन्तु यदि उसी सभा में कोई दूसरा आदमी बोले—"वह कुछ भी नहीं है—उसकी बात सुनने के योग्य नहीं है, वह क्या जानता है ? उसने तो अभी तत्त्वज्ञान का आरम्भमात्र किया है—उसे अधिक कुछ भी नहीं आता ।" तो तत्क्षण तुम विस्मय से स्तम्भित हो जाओगे, तुम्हारे चेहरे का रङ्ग बदल

जायगा और तुम बोल उठोगे "मैं उसे एक बार दिखा देना चाहता हूँ कि मैं कैसा आदमी हूँ। मैं जो एक बड़ा तत्त्वज्ञानी हूँ, यह बात मैं उसके निकट प्रमाणित कर दूँगा।"

बस, बहुत हुआ, और प्रमाण की आवश्यकता नहीं; तुम कैसे तत्त्वज्ञानी हो यह तुम्हारी इन बातों से ही स्पष्ट जाना जाता है।

जीवन का खेल

१—जो उचित है और जो कार्य्योपयोगी है इन दोनों का शक्तिसम्मिलन और ऐक्यबन्धन ही प्रकृति का प्रधान कार्य है।

(२—बाह्य वस्तु हम लोगों की उपेक्षा का विषय है, किन्तु बाह्य वस्तु का व्यवहार और प्रयोग उपेक्षा का विषय नहीं) तब किस उपाय से मन की अविचलता और शांति तथा बाह्य विषय के सम्बन्ध में यत्नशीलता—इन दोनों की एक साथ रक्षा की जा सकती है? किस उपाय से अनवधानता का वर्जन किया जा सकता है? यहाँ पर चौपड़ खेलने वालों का उदाहरण ग्रहण करो। पासे के 'दाने' भी अप्रधान हैं और पासे की गोटियाँ भी अप्रधान हैं। मेरे पासे में कितने दाने पड़ेंगे यह मैं कैसे कह सकता हूँ? किन्तु जितने दाने पड़ें उनका उपयुक्त प्रयोग करना—यही असली खेल है। विचारपूर्वक सब बाह्य विषयों का निर्व्वाचन और विभाग करके इस प्रकार कहना—"बाह्य वस्तुएँ मेरे अधिकार में नहीं हैं, इच्छाशक्ति का प्रयोग करना ही मेरे अधिकार में है"—यही जीवन का प्रधान कार्य है। मैं अच्छे को

कहाँ खोजूँगा और बुरे को कहाँ खोजूँगा ? अपने अन्दर जो मेरी अपनी चीज़ है उसीके भीतर। किन्तु जो तुम्हारी अपनी चीज़ नहीं है उसको अच्छा भी मत कहो और बुरा भी मत कहो; इष्टजनक भी मत कहो, अनिष्टजनक भी मत कहो; उसके सम्बन्ध में उस प्रकार के किसी भी शब्द का प्रयोग मत करो।

३—तब क्या इन सब विषयों में अयत्नशील और असावधान होऊँगा ? किसी प्रकार से भी नहीं। यह भी एक प्रकार का इच्छा-शक्तिगत पाप और फलतः प्रकृति के विरुद्ध है। सावधान और यत्नशील होना होगा, क्योंकि वाह्य वस्तुओं का प्रयोग उपेक्षा का विषय नहीं है, किन्तु उसके साथ-ही-साथ अविचलित और शान्त रहना होगा, क्योंकि वाह्य वस्तु स्वयं उपेक्षा का विषय है। मेरे साथ जिसका प्राकृतिक सम्पर्क है उसके विषय में कोई मुझे बाधा दे अथवा बाध्य कर नहीं सकेगा। किन्तु जिन सब वस्तुओं के द्वारा मैं बाधित और बाध्य हुआ करता हूँ, जिनकी संप्राप्ति मेरे अधिकार में नहीं है, वह अच्छी भी नहीं है, बुरी भी नहीं। किन्तु उन सब वस्तुओं के प्रयोग पर ही भलाई और बुराई निर्भर करती है और वही मेरे अधिकार में है। विषयानुरागी की यत्नशीलता और विषय-विरागी की अविचलता—इन दोनों का मेल और एकत्वसाधन बड़ा ही कठिन है इसमें सन्देह नहीं; किन्तु इसी से यह असाध्य अथवा असम्भव नहीं कहा जा सकता। यदि यह असम्भव हो, तो, मनुष्य के लिए सुखी होना भी असम्भव है।

४—मुझे एक ऐसा आदमी दिखाओ जिसकी दृष्टि केवल इसी पर हो कि किसी एक काम को किस प्रकार से करना होगा; जो मनुष्य किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए लालायित न हो परन्तु

अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करने के लिए उत्सुक हो।

५—इसी से क्रिसिपस ने यह बातें बहुत ही अच्छी कही थीं—"जितने दिनों तक भविष्यत् मेरे निकट प्रच्छन्न रहता है उतने दिनों तक प्रकृति की अनुयायी वस्तुओं की प्राप्ति के लिए जो अवस्था सर्वापेक्षा अनुकूल होती है उसीका मैं अनुसरण किया करता हूँ; कारण, ईश्वर ने मुझे इस प्रकार के निर्व्वाचन का अधिकार दिया है। किन्तु मुझे यदि यह मालूम हो कि ईश्वर ने मुझे पीड़ित होने की आज्ञा दी है, तो मैं आप ही उस ओर अग्रसर होऊँगा। यही क्यों, मेरे दोनों पाँवों में भी यदि बुद्धिवृत्ति होती तो वे भी आप-ही-आप आगे बढ़कर कीचड़ में फँस जाते।"

६—धान से बाल जो बाहर होते हैं वे किसलिए?—सूखने के लिए ही कि नहीं? और किसान लोग उन्हें काटेंगे, केवल इसीलिए क्या वे नहीं सूखते? क्योंकि अपने लिए जीवन धारण करने के निमित्त वे पृथ्वी पर नहीं आते। अतएव उनको यदि ज्ञान होता, तो किसान लोग जिसमें उन्हें न काटें, ऐसी प्रार्थना करनी क्या उनके लिये उचित होती? क्योंकि धान का नहीं काटा जाना धान के लिये घोर अभिशाप है। इसी प्रकार समझ लो कि बिना काटे हुए धान की तरह मनुष्य का नहीं मरना भी मनुष्य के लिये घोर अभिशाप है, क्योंकि हम लोग भी एक प्रकार से काटे जाने योग्य वस्तु हैं। तब, हम लोग जानते हैं कि हम लोग काटे जायँगे, इसीसे हम लोग इतना दुःख प्रकाश किया करते हैं। घोड़े की भलाई-बुराई किस बात में है, इसे घोड़े का पालनेवाला जिस तरह समझता है, हम लोग उस तरह अपनेको नहीं समझते—समस्त मनुष्य जाति की भलाई बुराई

किसमें है सो हम लोग नहीं समझते। किन्तु क्रिसाएटस् जिस समय शत्रु पर शस्त्र प्रहार करने को तैयार हुआ उसी समय सेनापति ने तुरही बजाकर उसे लौट आने की आज्ञा दी। उस तुरही का शब्द सुनकर क्रिसाएटस् शत्रु को मारने से रुक गया। अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की अपेक्षा सेनापति की आज्ञा का पालन करना उसे इतना अच्छा मालूम हुआ था। किंतु हम लोगों में से कोई भी अवश्यम्भाविता की आज्ञा का खुशी से पालन करना नहीं चाहता। हम लोग रोते-रोते, आर्तनाद करते-करते, दुःख कष्ट सहा करते हैं और उन सब कष्टों को प्रारब्ध का फल कहा करते हैं। पर प्रारब्ध क्या है? यदि भवितव्यता को ही प्रारब्ध कहो, तब तो सभी विषयों में हम लोग प्रारब्ध के अधीन हैं। किन्तु यदि मृत्यु को ही प्रारब्ध कहा जाय, तो जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु होगी ही—फिर इसमें दुःख किस बात का? हम लोग खड्ग-प्रहार से मरें, चक्की में पिसकर मरें, जल में डूबकर मरें, घर की छत से टूटकर गिरी हुई शहतीर की चोट से मरें, चाहे अत्याचारी राजा के हाथ से मरें—किसी भी पथ से क्यों न यमलोक को जायँ, इसमें हम लोगों का क्या आता जाता है? सभी पथ समान हैं। किन्तु यदि सच्ची बात सुनना चाहो, तो कहूँगा कि अत्याचारी राजा जिस पथ से तुम्हें यमलोक को भेजता है वही सबसे सीधा पथ है। अबतक किसी भी राजा ने किसी को "छः महीने तक फाँसी" नहीं दी; किन्तु ज्वररोग आदमी का महीनों तक वध किया करता है। फलतः यह सब व्यापार केवल वाक्याडम्बरमात्र—नाम का झङ्कारमात्र है।

७—किन्तु समुद्रयात्रा के समय हम लोग जिस तरह करते

हैं, आओ, इस समय भी हम लोग उसी तरह करें। उस समय हम लोगों के लिए क्या करना सम्भव है?—हम लोगों के लिए यही करना सम्भव है कि जहाज के सारङ्ग, जहाज के खलासी, यात्रा के सुयोग इत्यादि का निर्व्वाचन कर लें। उसके बाद मान लो कि एक तूफ़ान आगया तो उससे क्या होता जाता है? हमारे लिए जो कुछ करना आवश्यक था उसमें तो हमने कुछ बाक़ी नहीं रखा। अब उपस्थित समस्या की चिन्ता का भार और एक आदमी पर अर्थात् सारङ्ग पर है। किन्तु जहाज़ जो डूबा जा रहा है! उसके लिए मैं क्या करूँगा? इस समय मुझे और क्या करना है? मेरे वश की जो बात है वही मैं कर सकता हूँ—ईश्वर का तिरस्कार न करके, वावैला न मचाकर निर्भय चित्त से जलमग्न हो सकता हूँ। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि जिसने जन्म लिया है उसका मरण अवश्य होगा। मैं अमर नहीं हूँ, मैं जगत का एक अंशमात्र हूँ, जैसे दिन का एक अंश मुहूर्त है। मुहूर्त की भाँति आया हूँ, मुहूर्त की भाँति चला जाऊँगा। अतएव किस प्रकार चला जाऊँगा—जल में डूब कर अथवा ज्वर से पीड़ित होकर—इसकी कुछ परवा नहीं, क्योंकि मुझे तो चले जाने से मतलब है, चाहे जिस प्रकार जाना हो। तुम देखोगे कि चतुर बाजीगर लोग इसी प्रकार किया करते हैं। गोले को वे प्रधान वस्तु नहीं मानते, किस प्रकार गोला फेंकना होगा और किस प्रकार उसे पकड़ना होगा, इसीकी निपुणता पर खेल की उत्कृष्टता या निकृष्टता निर्भर करती है। इस गोले के खेल में नियम का बन्धन है, चतुराई है और बुद्धि-विवेचन का भी प्रयोजन है। अपनी

गोद पसारे रहने पर भी सम्भवतः हम गोले को नहीं पकड़ सकेंगे; किन्तु एक दूसरा आदमी अनायास ही मेरे फेंके हुए गोले को धर लेगा। किन्तु यदि मैं गोले को फेंकते समय ही आकुल-व्याकुल हो उठूँ तो मेरा खेल कैसे होगा ? किस प्रकार मैं स्थिर होऊँगा ? खेल के क्रम को कैसे ठीक रख सकूँगा ?

८—किस प्रकार गोला खेलना होता है, यह बात सुकरात अच्छी तरह जानते थे। सो कैसे ?—जब हम विचरालय में उपस्थित हुए थे उस समय उन्होंने उपहास करके कहा था, "देखो थानिटस्, तुमने ऐसी बात कैसे कही कि मैं ईश्वर का विश्वास नहीं करता, 'डेमन'-लोगों को (प्रेतात्माओं को) तुम क्या ठहराते हो ? यह सब क्या ईश्वर के पुत्र अथवा देवता और मनुष्य के बीच वाले एक प्रकार की मिश्र प्रकृति के जीव नहीं हैं ?" इस बात के स्वीकृत होने पर वह फिर बोले—"घोड़े से भिन्न है किन्तु गधा नहीं है, इस प्रकार का अभिमत क्या तुम्हारी समझ में किसी का हो सकता है ?" इसी प्रकार सुकरात ने गोला खेला था। किस प्रकार के गोले उन्होंने उन लोगों के बीच में फेंके थे ?—जीवन, बन्धन, निर्व्वासन, विष, स्त्री-विच्छेद त्यागा हुआ अनाथ बालक। इन्हीं सब गोलों को लेकर उन लोगों ने खेल खेले थे, किन्तु सुकरात ने भी कुछ कम खेल नहीं खेले—बहुत सुन्दर रीति से, वजन समझकर खेले थे। हम लोगों के लिए भी उसी प्रकार करना उचित है। चतुर बाजीगर गोला फेंकने और धरने के समय जिस प्रकार सावधान और यत्नशील होता है, हम लोगों को भी उसी तरह सावधान और यत्नशील होना होगा; किन्तु स्वयं गोले के सम्बन्ध में उदासीन रहना होगा।

भय और अभय

१—"कोई आदमी डरपोक और निडर दोनों साथ-ही-साथ हो सकता है।"—तत्त्वज्ञानियों की यह उक्ति किसी-किसी को परस्पर विरुद्ध सी प्रतीत होती है। अच्छा, एक बार आलोचना करके देखा जाय कि हम लोगों के पक्ष में यह सम्भव है या नहीं। साधारणत: यह अवश्य ही मन में आता है कि भय निर्भीकता का विरोधी है, अतएव यह दोनों परस्पर-विरोधी भाव कभी एक साथ रह नहीं सकते। किन्तु जो बात बहुतों को परस्पर विरोधी मालूम होती है उसको मैं इस प्रकार देखता हूँ—

इसके पहले यह अनेक बार सिद्ध किया जा चुका है कि जो सब विषय हम लोगों के इच्छाधीन या शक्ति के भीतर हैं उन्हीं के उपयुक्त प्रयोग पर हम लोगों की भलाई-बुराई निर्भर करती है। जो हम लोगों के इच्छाधीन या शक्ति के भीतर नहीं हैं—जो अनिवार्य हैं, जिनसे हम पार नहीं पा सकते—वे हम लोगों के लिए अच्छे भी नहीं हैं और बुरे भी नहीं हैं।" यह बात यदि सत्य हो, तब यदि कोई तत्त्वज्ञानी कहे कि "जो सब विषय हम लोगों के इच्छाधीन नहीं हैं उनके विषय में निडर रहना और जो सब हम लोगों के इच्छाधीन हैं उन्हीं सबके लिए भय करना" तो इस बात में अनौचित्य क्या है ? यदि बुरी वासना के ऊपर हम लोगों की बुराई निर्भर करती है तो केवल उसी विषय में हम लोगों को डरना उचित है और जो विषय हम लोगों के इच्छाधीन या शक्ति के भीतर नहीं है उसके सम्बन्ध में निर्भीक रहना हम लोगों का कर्तव्य है। केवल यही नहीं, ऐसे मौक़े पर हम

लोग भय के भाव से ही साहस प्राप्त करते हैं। जो सचमुच बुरा है उसे करने में हमें भय होता है, इसीसे जो बुरा नहीं है उसके विषय में हम लोग निर्भय होते हैं।

२—किन्तु इसके विरुद्ध हम लोग हरिण की तरह व्यर्थ भय-भीत होकर विपत्ति के ग्रास में पड़ जाते हैं। हरिण को जब भय होता है और वह डरकर भागने की चेष्टा करता है तब वह निरापद स्थान समझ किस जगह जाकर आश्रय ग्रहण करता है ?--व्याध जो जाल फैला रखता है उसी जाल के भीतर। इसी तरह वह मृत्यु के मुख में पड़ जाता है। कारण, वह यह नहीं जानता कि किस जगह भय करना होता है और कहाँ निर्भय रहना होता है। हम लोग विना जाने-बूझे साधारणतः किस विषय में भयभीत हुआ करते हैं—उसी विषय में तो जो हम लोगों की इच्छा-शक्ति के परे है। और भय की सम्भावना नहीं है, ऐसा समझकर हम लोग किस विषय में निर्भय रहते हैं ?—उसी विषय में जो हम लोगों की इच्छा के अधीन है। किसी प्रलोभन के मोह और विडम्बना में पड़कर कोई नासमझी का काम या लज्जाजनक निन्दित काम करना, अथवा नीच लोभ के वशीभूत होकर किसी वस्तु का अनुसरण करना—यह सब वास्तविक भय के विषय हैं या नहीं; इस सम्बन्ध में हम लोग एकबार भी विचार करके नहीं देखते। हम लोगों का जो-कुछ भय है सो केवल उसी विषय में, जो हम लोगों की इच्छा-शक्ति के परे है।

जो मृत्यु अपरिहार्य है, जिन सब दुःखों को टालना शक्ति के बाहर है, उन्हीं से हम लोग डरते हैं और डरकर भागने की चेष्टा करते हैं। अपने स्वाभाविक साहस का अनुचित स्थान में

प्रयोग करके, कर्त्तव्याकर्तव्य-ज्ञान से रहित होकर, हम लोग बड़ी निर्लज्जता के साथ पाप के हाथ में सम्पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण कर देते हैं और उसको कायरता, नीचता, अन्ध-आतङ्क तथा दुःख-कातरता में परिणत कर देते हैं। यदि हम लोग अपने भय के भाव को इच्छा-राज्य के अन्दर ला सकें तो हम भय के विषय का इच्छा-पूर्वक निवारण भी कर सकते हैं। किन्तु जो विषय हम लोगों की इच्छा के अधीन नहीं है उससे डरने पर हम लोग इच्छा करने पर भी उसका निवारण नहीं कर सकते। फलतः व्यर्थ भय से विचलित होकर हम लोग बेमतलब कष्ट पाते हैं।

मृत्यु भी भयंकर नहीं और दुःख भी भयंकर नहीं, परन्तु दुःख और मृत्यु का भय ही भयङ्कर है। इसलिए हम उस कवि की प्रशंसा करते हैं जिसने कहा था—

"मृत्यु से मत भूल कर भी तुम डरो,
कायरों की मृत्यु का ही भय करो।"

३—अतएव मृत्यु से न डरकर मृत्यु के भय से ही डरना उचित है। किन्तु हम लोग ठीक इसके विरुद्ध आचरण करते हैं। हम लोग मृत्यु से भागते हैं, किन्तु मृत्यु क्या चीज है इस विषय में तनिक भी विचार करके नहीं देखते—इस विषय में हम लोग एकदम उदासीन रहते हैं। सुकरात ने इन विषयों को "हौआ" कहा था। उनका कहना बहुत ही ठीक था। कारण, विकराल चेहरा केवल अबोध बालकों को ही भीषण और भयङ्कर मालूम होता है। यह "हौआ" देखकर छोटे बच्चे जैसे डर जाते हैं, ठीक वैसे ही हम लोग भी संसार की किसी-किसी घटना से भय-विह्वल हो उठते हैं। बच्चा क्या है?—बच्चा मूर्त्तिमान् अज्ञानता का नामा-

स्वप्नमात्र है। जिसने कुछ भी शिक्षा प्राप्त नहीं की, वही बच्चा है। कारण, बालक भी यदि शिक्षित हो, ज्ञानवान् हो तो फिर वह बालक नहीं रह जाता, उस समय वह हम लोगों की बराबरी में ही आ जाता है। मृत्यु क्या है?—मृत्यु एक "हौआ" है। उसे हिला-डुलाकर देखो, परीक्षा करके देखो; देखो तो कि वह तुम्हें काटती है या नहीं। चाहे शीघ्र हो या विलम्ब से हो, एक समय यह शरीर आत्मा से अलग होगा—पहले भी हुआ था। यदि अभी ही अलग हो तो इसके लिए तुम इतने नाखुश क्यों होते हो? यदि अभी अलग न भी हो, तो कुछ समय के बाद तो होगा ही। अच्छा, इस प्रकार अलग होने का कारण क्या है—उद्देश्य क्या है?—कालचक्र का भ्रमणकाल जिसमें सम्पूर्ण हो, यही इसका उद्देश्य है। कारण, वर्त्तमान, भविष्यत् और अतीत यह तीनों ही इस संसार के लिए आवश्यक हैं।

दुःख क्या है?—दुःख भी एक "हौआ" ही है। उसे हिला-डुलाकर देखो, परीक्षा करके देखो। प्रकृति इस बेचारे शरीर को एक-एक बार कभी धीरे से और कभी जोर से झकझोर देती है। यदि इससे कुछ फल नहीं समझते, तो मृत्यु का द्वार तो खुला ही है। यदि समझते हो कि इससे कुछ लाभ है तो सह लिया करो। सब समय दरवाजा खुला रखना ही अच्छा है, ऐसा होने से फिर कोई कष्ट उठाना नहीं पड़ता।

४—तब क्या मेरा अस्तित्व नहीं रहेगा? अवश्य रहेगा, किन्तु संसार के प्रयोजन के अनुसार दूसरे रूप में रहेगा। तुम स्वयं अपने समय के अनुसार तो इस पृथ्वी पर नहीं आये, संसार को जब आवश्यकता हुई तभी तुम आये हो।

५—इस मत के अनुसार चलने से क्या लाभ होगा? जिन लोगों ने वास्तविक शिक्षा प्राप्त की है उन लोगों के निकट जो सब से सुन्दर और उपयोगी है—वही शान्ति, वही निर्भयता, वही स्वाधीनता-रूपी फल प्राप्त होगा। साधारण लोगों की धारणा है कि जो लोग दास-श्रेणी के अन्तर्गत नहीं हैं, जो लोग स्वाधीन हैं, उन्हीं को शिक्षा देना उचित है। किन्तु तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं कि जिन लोगों ने सुशिक्षा प्राप्त की है केवल वे ही स्वाधीन हैं। इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यही है—अपनी इच्छा के अनुसार रह सकना, काम कर सकना। इसके सिवा क्या स्वाधीनता का और कोई अर्थ है? नहीं, और कोई भी अर्थ नहीं है। अच्छा, तो पाप के कार्य में लिप्त रहने की ही तुम्हारी इच्छा है? नहीं, हमारी यह इच्छा नहीं है।

इसी से कहता हूँ कि वे कभी स्वाधीन नहीं हैं, जो भय-विह्वल, शोक-कातर अथवा उद्विग्न-चित्त रहते हैं। वे ही प्रकृत स्वाधीन हैं, जो दुःख-शोक, भय-उद्वेग, पाप-ताप से मुक्त हो गये हैं।

जैसा का तैसा

१—छोटा या बड़ा जो कोई पदार्थ चित्त का आकर्षण करे, कोई विशेष सुविधा प्रदान करे, अथवा जिस पदार्थ को तुम अच्छा समझो—उसके सम्बन्ध में जब कोई बात कहो तब वह जैसा हो ठीक वैसा ही कहो, इसका सदैव ध्यान रखना। तुम यदि एक मिट्टी के घड़े को अच्छा समझते हो, तो यही विचा-

रना कि "मैं एक मिट्टी के घड़े को अच्छा समझता हूँ।" क्योंकि इस प्रकार विचार करने से वह यदि टूट जाय, तो तुम्हें कष्ट न होगा।

२—किसी कार्य में हाथ डालने के पहले विचारकर देख लेना कि तुम क्या करने जाते हो। यदि किसी तीर्थ में स्नान करने जाओ, तो वहाँ जो सब बातें होती हैं उन सबको अपने मानस-पट पर अङ्कित कर लेना, वहाँ की भीड़भाड़, धकाधुकी, मारामारी, चोरीचमारी इत्यादि सब बातों को पहले ही अपने मन में कल्पना करके देख लेना। ऐसा करने से तुम और भी निर्भय और निश्चिन्त मन से उस कार्य में प्रवृत्त हो सकोगे। उस समय तुम स्पष्ट कर सकोगे कि "मैं तीर्थ में स्नान करना चाहता हूँ और प्रकृति का अनुगामी होकर मैं अपने उस संकल्प को सिद्ध करूँगा।" हम लोगों के प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में यही बात लागू होती है। कारण, यदि तुम्हारे तीर्थस्नान के समय कोई विघ्न-बाधा उपस्थित हो, तो उसी समय तुम्हारे मन में होगा कि "केवल तीर्थस्नान ही एकमात्र उद्देश्य नहीं था, बल्कि मेरा विचार यह था कि प्रकृति का अनुवर्त्ती होकर अपने इस उद्देश्य को सिद्ध करूँगा। किन्तु वहाँ की घटना देखकर यदि मैं नाराज होऊँ तो अपने उस उद्देश्य को सिद्ध नहीं कर सकूँगा।"

३—साधारण आदमी और तत्त्वज्ञानी में पहला भेद यही है कि साधारण आदमी इस तरह कहा करते हैं,—"हाय! हाय!! मेरी सन्तान का, मेरे भाई का, मेरे पिता का सर्वनाश हुआ!" किन्तु तत्त्वज्ञानी को कभी लाचार होकर "हाय! हाय!!" कहना ही हो तो वह अपनेको सम्हालकर वाक्य को इस प्रकार समाप्त करता है—"मेरी आत्मा का सर्वनाश हुआ।" इच्छा-शक्तिमान्

आत्मा को और कोई वाधा नहीं दे सकता, अथवा और कोई उसका अनिष्ट नहीं कर सकता—आत्मा ही आत्मा का वाधक और शत्रु है। अतएव कष्ट के समय यदि हम अपनेको ही दोषी ठहरावें और यह वात स्मरण रखें कि हम लोगों के मन का संस्कार ही हमारे कष्ट और उद्वेग का एकमात्र कारण है तो समझना कि हम साधन-पथ पर कुछ अग्रसर हुए हैं। किन्तु इस समय जैसा देखते हैं उससे भिन्न पथ पर हम लोग आरम्भ से ही चलते आये हैं। लड़कपन में लापरवाही से चलते-चलते यदि हम लोग किसी पत्थर से टकराकर कभी गिर पड़ते, तो धाई उसके लिए हमारा तिरस्कार न करके उस पत्थर के टुकड़े को ही मारती थी। किन्तु उस पत्थर के टुकड़े का क्या दोष ? तुम्हारे बच्चे की नासमझी के कारण क्या उसे रास्ता छोड़कर हट जाना उचित था ? और भी देखो, स्नान करके आने पर यदि कभी हम लोगों को कुछ खाने के लिए नहीं मिलता, तो हमारे गुरूजी कभी हमें अपनी वासना को दमन करने को नहीं कहते, वल्कि वह रसोइये को ही पीटते थे। महाशय, तुम्हें तो हमने रसोइये को शिक्षा देने के लिए नियत नहीं किया था, अपने बच्चे के शिक्षक के पद पर ही तुम्हें नियुक्त किया था—जिसमें लड़के की सुशिक्षा, सदभ्यास और उन्नति साधित हो वही तुम्हारे देखने की वात थी। इसी प्रकार जवान होने पर भी हम लोग लड़के की तरह आचरण करते हैं। कारण, संगीत में बच्चा कौन है ?—जो संगीत नहीं जानता। लिखने-पढ़ने में बच्चा कौन है ?—जिसे अक्षर का बोध नहीं हुआ। जीवन में बच्चा कौन है ?—जो तत्त्वज्ञान में अशिक्षित है।

४—वस्तु-समूह मनुष्य को कष्ट नहीं देता, परन्तु उसके सम्बन्ध में मनुष्य का जो संस्कार है वही उसे कष्ट देता है। देखो, मृत्यु आने पर तनिक भी भयङ्कर नहीं है; यदि भयङ्कर होती तो सुकरात को भी भयङ्कर प्रतीत होती। किन्तु मृत्यु के सम्बन्ध में हम लोगों का जो संस्कार है वही भयंकर है—उसकी जो-कुछ भयंकरता है वह हमारे उस संस्कार के भीतर ही है। अतएव जब हम लोगों के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित होती है, किसी कष्ट में पड़ते हैं अथवा शोक-दुःख से अभिभूत होते हैं, तब उस समय हमें स्मरण रखना चाहिए जिसमें हम अपनेको छोड़कर अर्थात् अपने संस्कार को छोड़कर—और किसी को भी दोष न दें। जो आदमी तत्त्वज्ञान में अशिक्षित है उसे कोई कष्ट होने पर वह दूसरे को दोषी ठहराता है। जिसने शिक्षा आरम्भ की है वह अपनेको ही दोषी ठहराता है और जो सुशिक्षित हो गया है वह न दूसरे को दोषी ठहराता है और न अपने को दोषी ठहराता है।

५—जो उत्कृष्टता तुम्हारी अपनी वस्तु में नहीं है उसके विषय में कभी उत्फुल्ल-चित्त न होना। यदि तुम्हारा घोड़ा उत्फुल्ल-चित्त होकर कहे कि "मैं सुन्दर हूँ" तो यह बात भले ही सुन ली जाय; किन्तु यदि तुम उत्फुल्ल-चित्त से कहो कि "हमारे पास एक सुन्दर घोड़ा है"—तो समझना कि जिस उत्कृष्टता पर तुम फूलते हो वह उत्कृष्टता तुम्हारे घोड़े की है, तुम्हारी नहीं अच्छा तुम्हारी अपनी वस्तु क्या है ? वह यह है—बाहरी वस्तुओं के समूह का यथायोग्य प्रयोग करना। अतएव जब तुम प्राकृतिक नियमानुसार बाहरी वस्तुओं का प्रयोग कर सको तभी

तुम उत्फुल्ल होना; क्यों कि जो उत्कृष्टता तुम्हारी अपनी वस्तु है; उसी के लिए तुम उत्फुल्ल हो सकते हो।

ज्ञानी और अज्ञान का भय

१—जब किसी पदार्थ की छाया हमारे मन पर पड़ती है तब पहले हम लोग उसके बाहरी रूप पर ही आसक्त या मोहित हो जाते हैं। उसमें हम लोगों की इच्छा-शक्ति का कोई वश नहीं रहता। वह हम लोगों के अधिकार के बाहर है। इन पदार्थ-समूह में एक ऐसी निजस्व शक्ति है कि वह पहले ही बलपूर्वक हम लोगों के हृदय में एक मिथ्या प्रतीति उत्पन्न कर देती है। किन्तु इन प्रतीतियों की सत्यता के सम्बन्ध में बुद्धि का अनुमोदन चाहिए—यह अनुमति देना या न देना मनुष्य की इच्छा-शक्ति के अधीन है। आकाश में एक बड़ा भारी शब्द हुआ, एकाएक किसी वस्तु का पतन हुआ, किसी विपद् की पूर्व-सूचना हुई, अथवा इसी प्रकार का और कुछ हुआ—उस समय तत्त्वज्ञानियों का चित्त भी तनिक विचलित हुए बिना नहीं रहता। वह सिहर उठेंगे, उनके मुँह का रंग उतर जायगा। उसके द्वारा उनका कोई अमंगल होगा, इस प्रकार की धारणा के वशीभूत होकर वह विचलित नहीं होते; परन्तु बुद्धि-ज्ञान का कार्य आरम्भ होते-न-होते ही एक प्रकार की अचिन्तित, तात्कालिक, स्वाभाविक चञ्चलता आकर, उन्हें विचलित कर देती है। किन्तु क्षण भर के बाद ही जब वह विचार करके देखते हैं तब यह प्रत्यक्ष पदार्थ-समूह उनकी अन्तरात्मा के वास्तविक भय के कारणस्वरूप नहीं मालूम होते,

उसके सम्बन्ध की प्रतीति में वह योग नहीं देते अथवा उसका अनुमोदन नहीं करते। वह उसका तिरस्कार करते हैं, परित्याग करते हैं, उसमें ऐसा कुछ भी नहीं देखते जिससे उन्हें भय हो सके। तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी में इतना ही भेद है। अज्ञानी लोग समझते हैं कि पहली प्रतीति से वह सब उन्हें जैसे भीषण और कठोर मालूम होते हैं, असल में भी वह सब वैसे ही हैं। उनकी बुद्धि भी इस प्रतीति में योग देती है, उसका अनुमोदन करती है। किन्तु यद्यपि तत्त्वज्ञानी का चेहरा थोड़ी देर के लिए फीका पड़ जाता है तथापि वह उसमें योग नहीं देते, उसका अनुमोदन नहीं करते। इस प्रतीति के सम्बन्ध में उनके मन का कोई परिवर्तन नहीं होता। अर्थात् पहले की तरह वह इस समय भी सोचते हैं कि उन सब के भीतर वास्तविक भय का कोई कारण नहीं है, वे भीषण आकार धारण करके केवल मिथ्या भय दिखाते हैं।

२—हम लोगों की आत्मा एक जल-पूर्ण पात्र की तरह है। पात्रस्थ जल के ऊपर जैसे प्रकाश की किरण पड़ती है, वैसे ही पदार्थ-समूह-जात प्रतीति की छाया भी आत्मा के ऊपर पड़ती है। जल के चञ्चल होने से जैसे किरण भी चञ्चल मालूम होती है, वैसे ही मनुष्य का मन जब अज्ञान से ढका रहता है, चञ्चल रहता है, तभी सब रूप विकृत मालूम होते हैं। वास्तविक सत्य में कोई विकार नहीं होता। जिस मन के ऊपर उसकी छाया पड़ती है उस मन की विकृत अवस्था के कारण ही वह विकृत भाव से दीखता है। उस विकृत अवस्था के बीत जाने पर ही उसके निकट वास्तविक सत्य पुनः स्वाभाविक रूप में प्रकाशित होता है।

जीवन-सागर की यात्रा

समुद्र की यात्रा के समय जब जहाज़ कहीं पर ठहर कर लंगर डालता है तब तुम जल लाने के लिये डोंगी पर चढ़ कर जाते हो और जल भर चुकने के बाद राह में कन्द-मूल, फल-फूल आदि जो-कुछ पाते हो उसका भी संग्रह कर लिया करते हो। किन्तु जहाज़ का कप्तान न जाने कब तुम्हें बुलावे, इस विचार से तुम्हें सदा ही अपने मन को जहा की ओर स्थिर रखना होता है और उसके बुलाते ही उन सब चीज़ों को छोड़ तुम्हें दौड़कर जहाज़ पर पहुँचना होता है। यदि उसके बुलाते ही तुम नहीं आये तो वह भेड़-बकरी की तरह हाथ-पाँव बाँधकर तुम्हें जहाज़ के निचले हिस्से में डाल देता है। मनुष्य का जीवन भी इसी प्रकार का है। कन्द-मूल, फल-फूल आदि की तरह स्त्री-पुत्र आदि को साथ ले चलने में कोई बाधा नहीं है। किन्तु नाव का स्वामी यदि तुम्हें बुलावे तो सब वस्तुओं का त्याग करके तुम्हें दौड़कर जहाज़ पर आना ही होगा—पीछे की ओर फिरकर एकबार देखने भी नहीं पाओगे। यदि तुम बुढ़ापे की अवस्था में पहुँच गये हो तो कभी जहाज़ से दूर न जाना, ऐसा न हो कि मालिक तुम्हें पुकारे और तुम उस समय उपस्थित न रहो।

प्रत्यर्पण

किसी अवस्था में भी ऐसा न कहना कि "मैंने यह चीज़ खो दी है," बल्कि कहना कि "मैंने प्रत्यर्पण कर दिया है।"

तुम्हारा लड़का क्या मर गया है ?—"जिसका धन था उसे प्रत्यर्पण किया गया है।" तुम्हारी स्त्री मर गई है ?—"प्रत्यर्पण की गई है।" अपनी सम्पत्ति से क्या तुम वञ्चित हुए हो ?—"वह भी प्रत्यर्पण हुई है।" ऋणदाता किसी के द्वारा अपना पावना वसूल करता है—इसमें तुम्हारा क्या होता जाता है ?

अतएव जितने दिनों तक वह अपने धन को तुम्हारे पास रहने दे तब तक दूसरे का धन समझकर उसकी सुव्यवस्था करना। यात्री लोग धर्म्मशाला का जिस प्रकार व्यवहार करते हैं तुम भी उसके सम्बन्ध में उसी प्रकार व्यवहार करना।

सुख का पथ

१—"मेरी जो इच्छा है वही हो" इस प्रकार आकांक्षा न करके यदि तुम ऐसा विचार करो कि "चाहे जिस प्रकार की ही घटना हो, मैं उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करूँगा" तो तुम सुखी होगे।

२—रोग शरीर की ही बाधा है, वह आत्मा की बाधा नहीं है; यदि उसमें आत्मा की सम्मति हो तभी वह आत्मा की बाधा होती है। लंगड़ापन पाँव की ही बाधा है, आत्मा की बाधा नहीं। जो कुछ भी क्यों न हो, तुम सब अवस्था में ही कह सकते हो कि यह बाधा मेरी नहीं, यह किसी दूसरे की बाधा है।

३—तब कौन तुम्हारा उत्पीड़न करता है—कौन तुम्हें कष्ट देता है ? तुम्हारी अज्ञानता ही तुम्हारा उत्पीड़न करती है—तुम्हें कष्ट देती है। जब हम लोग बन्धु-बान्धव से, सुख-सम्पद् से

अलग होते हैं तब अपना अज्ञानता ही हम लोगों का उत्पीड़न करती है। धाई जब थोड़ी देर के लिए बच्चे के पास से चली जाती है, तब बच्चा रोने लगता है, किन्तु फिर ज्योंहीं उसे थोड़ी मिठाई दी जाती है त्योंही वह उसका दुःख भूल जाता है। तुम भी क्या उसी बच्चे की तरह होना चाहते हो ?

हम जिसमें थोड़ी-सी मिठाई पर भूल न जाँय, हम जिसमें यथार्थ ज्ञान द्वारा, विशुद्ध भाव द्वारा परिचालित हों, इसका ध्यान रखना चाहिए। वह यथार्थ ज्ञान क्या है ?

मनुष्य को यह समझना चाहिए—क्या बन्धु-बान्धव, क्या पद-मर्यादा, यह सब-कुछ भी अपना नहीं है—सभी दूसरे की चीजें हैं; अपने शरीर को भी दूसरे का ही समझना। धर्म्म के नियम को ही सदा स्मरण रखना—नजर के सामने रखना। वह धर्म्म का नियम क्या है ? वह यही है—जो कुछ वास्तव में अपना है उसे चिपट-कर धरना, दूसरे की चीज पर दावा न करना। जो तुम्हें दिया गया है उसीका व्यवहार करना, जो तुम्हें नहीं दिया गया है उसका लोभ न करना। जो तुम से वापस ले लिया जाय उसे तुम इच्छापूर्वक सहज में ही छोड़ देना और जितने दिनों तक उसका भोग कर सके हो उसके लिए देनेवाले को धन्यवाद देना।

४—अभागे मनुष्य ! जो प्रतिदिन देखते हो उससे क्या तुम सन्तुष्ट नहीं हो ? यह सूर्य, यह चन्द्र, यह समुद्र, यह पृथ्वी—इनकी अपेक्षा श्रेष्ठ अथवा बड़ा देखने योग्य पदार्थ और क्या है ? जो समस्त ब्रह्माण्ड का शासन करते हैं वही तुम्हारे हृदय में भी हैं। यदि तुम उनके पथ के पथिक होओ, क्षुद्र विषयों में क्या तुम्हारी श्रद्धा हो ? जब तुम्हें इस चन्द्र-सूर्य को भी छोड़ कर

जाना पड़ेगा, उस समय तुम क्या करोगे ? क्या बच्चे की तरह बैठे-बैठे केवल रोया करोगे ? तुम इस प्रकार कष्ट क्यों पाते हो ? यथार्थ ज्ञान के अभाव से ही कष्ट पाते हो—मोह के कारण ही कष्ट पाते हो ।

५—हे मनुष्य ! और किसी चीजके लिए पागल न होओ—केवल शान्ति के लिए, मुक्ति के लिए, महत्त्व के लिए पागल होओ। दासता से मुक्त हो सिर ऊँचा करके खड़े होओ। ऊपर ईश्वर की ओर देखकर साहसपूर्वक यह कहो—"हे प्रभो, अब से तुम्हारी जो इच्छा हो उसीका मेरे प्रति विधान करो; तुम्हारी जो इच्छा हो, वही मेरी भी इच्छा होगी—मैं तुम्हारा हूँ। तुम्हें जो अच्छा लगे उसका मैं कभी परित्याग नहीं करूंगा; जहाँ इच्छा हो वहीं तुम मुझे ले जाओ; जिस तरह के साज से मुझे सजाना चाहो, उसी तरह के साज से मुझे सजाओ। तुम्हारी क्या इच्छा है ?—मैं प्रभुत्व करूँ या सामान्य मनुष्य की तरह रहूँ; घर में निवास करूँ अथवा निर्वासित होऊँ; दरिद्रता का भोग करूँ अथवा ऐश्वर्य का भोग करूँ ? तुम जैसी व्यवस्था करोगे उसी का मैं लोगों के सामने समर्थन करूँगा; उसीको उपयोगी कहकर सब के सामने उसका प्रतिपादन करूँगा।"

अतएव जो तुम्हारे लिये वास्तव में अमङ्गलजनक है, उसीको अपने मन से दूर कर दो। दुःख, भय, लोभ, ईर्षा, मात्सर्य, विलासिता, भोगाभिलाष—इन सब को मन से दूर करो। किन्तु जब तक तुम ईश्वर के प्रति दृष्टि नहीं रखोगे—उनके द्वारा परिचालित नहीं होओगे—उनके चरणों में अपने जीवन का उत्सर्ग करके उनके आदेश का पालन नहीं करोगे, तब तक यह सब

कुप्रवृत्तियाँ तुम्हारे मन से किसी प्रकार भी दूर न होंगी। इस पथ को छोड़ यदि तुम दूसरे पथ पर चलो तो तुम्हारी अपेक्षा प्रबलतर शक्ति आकर तुम्हें पराजित कर देगी; चिरकाल तक तुम बाहर-ही-बाहर सुख-सौभाग्य की खोज करते रहोगे, किन्तु कभी उसे पाओगे नहीं। कारण, तुम उसी जगह उसकी खोज करते हो जहाँ उसके मिलने की कोई सम्भावना नहीं; और उस जगह खोज करने में उपेक्षा करते हो जहाँ वह वास्तव में है।

कर्त्तव्य

१—दूसरों के साथ हमारा जैसा सम्बन्ध होता है उसी के अनुसार हम लोगों के सब कर्त्तव्य निर्द्धारित होते हैं। अमुक व्यक्ति क्या हमारा पिता है ? ऐसा होने से यह प्रकट होता है कि तुम्हें उनकी सेवा करनी होगी, सब बातों में उनकी आज्ञा मानकर चलना होगा, उनकी डाट-फटकार सहनी पड़ेगी, उनके दिये हुए दण्ड का भी भोग करना होगा। किन्तु यदि वह असत् पिता हों, तब क्या होगा ? केवल सत्-पिता के साथ ही तुम्हारा सम्बन्ध होगा, ऐसा क्या प्रकृति का कोई नियम है ?—नहीं, प्रकृति का नियम केवल यही है कि तुम किसी एक पिता के साथ सम्बन्ध-सूत्र से आबद्ध होगे।

तुम्हारा भाई तुम्हारी बुराई करता है, करने दो; उसके प्रति तुम्हारा जो सम्बन्ध है तुम उसकी रक्षा करते चलो। वह कैसा व्यवहार करता है इसकी छानबीन करके देखने का कोई प्रयोजन नहीं है। किस प्रकार चलने से तुम अपने स्वाभाविक नियम का

पालन कर सकते हो, तुम केवल इतना ही देखो। तुम यदि आप ही इच्छा न करो, तो कोई भी तुम्हारी क्षति नहीं कर सकता; तुम यदि समझो कि तुम्हारी क्षति होती है, तभी तुम्हारी वास्तविक क्षति होगी।

२—इसी प्रकार यदि तुम ध्यान देकर सब सम्बन्धों को देखने का अभ्यास करो तो पड़ोसी के प्रति, अपने देशवालों के प्रति और और भी सब लोगों के प्रति तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है—यह सहज में ही निश्चित हो जायगा।

जिसका जो काम

१—"जीवनभर असम्मानित होकर ही मुझे रहना होगा। देश में मेरे लिए कोई स्थान नहीं, मैं देश का कोई नहीं।" इस प्रकार के विचार से अपने मनको दुःख न दो। मान-सम्भ्रम की अप्राप्ति को क्या तुम अनिष्ट समझते हो? दूसरे के किये हुए पापाचरण से जैसे तुम पाप के भागी नहीं होते, उसी प्रकार दूसरे के किये हुए कार्य्य से भी तुम्हारी प्रकृति अनिष्ट नहीं होती। तुम जब किसी भोज में निमंत्रित होते हो—राज्य के किसी कर्म्म-पद पर नियुक्त होते हो—तब वह क्या तुम्हारा अपना किया काम होता है? तब इसमें असम्मान की बात क्या है? "मैं देश का कोई नहीं"—यह बात तुम कैसे कहते हो? जो सब विषय तुम्हारे अधीन हैं, जिनमें तुम सब की अपेक्षा अधिक योग्यता दिखा सकते हो, केवल उन्हीं विषयों में तुम "देश का कोई" कहकर परिचित हो सकते हो।

२—"अपने बन्धुओं का मैं कोई उपकार नहीं कर सकता।" यह बात कैसे कहते हो? बन्धुओं का उपकार करना। वह लोग तुम से धन नहीं पायेंगे, मान नहीं पायेंगे, यह बात सत्य है। यह सब क्या हम लोगों के अपने अधिकार में है? जिसके पास जो चीज़ नहीं है, वह क्या उसे दूसरे को दे सकता है?

३—"यदि नहीं है तो अर्ज्जन करो"—लोग ऐसा कहा करते हैं। इस सब का अर्ज्जन करने जाकर यदि मुझे अपना धर्म्म, अपनी भक्ति, अपना महत्त्व, यह सब खोना न पड़े तो बताओ किस उपाय से उसका अर्ज्जन करना होगा? मैं वैसा ही करूँगा किन्तु जो सब वस्तुएँ एकदम अच्छी नहीं हैं उनका अर्ज्जन करने जाकर जो सब अच्छी वस्तुएँ मेरे पास हैं—यदि मैं तुम्हारी बात मानकर चलने में उन्हें खो बैठूँ, तो क्या मैं तुम्हें मिथ्यावादी और अविवेकी नहीं समझूँगा? अच्छा, बोलो तो देखूँ, तुम इन दोनों में क्या चाहते हो? धन चाहते हो या चिरविश्वस्त धर्म्मनिष्ठ बन्धु चाहते हो? यदि तुम अपने बन्धु की धर्म्म-निष्ठा और विश्वस्तता चाहते हो तो ऐसा कोई काम करने को उसे न कहना, जिसे करने जाकर वह इन सब गुणों को खो बैठे।

४—"किन्तु ऐसा होने से मैं देश का कोई काम कर नहीं सकूँगा।" देश का काम किसे कहते हैं? तुम्हारे पास इतना धन नहीं है कि तुम एक ताला बनवा सको, चाहे एक नया घाट बधवा सको। देश तुम से यह सब नहीं पावेगा, यह ठीक है। किन्तु इससे क्या? देश तो लोहार से जूता पाने की आशा नहीं करता, अथवा मोची से अस्त्र-शस्त्र पाने की आशा नहीं करता।

जिसका जो काम है वह यदि उसे सुसम्पन्न करे, तो यही यथेष्ट है। यदि तुम देश के एक आदमी को धर्मनिष्ठ और भगवद्भक्त बना सको तो क्या तुम्हारा देश का काम करना नहीं हुआ ? अतएव, "मैं देश का कोई काम नहीं कर सकूँगा"—यह बात किसी मतलब की नहीं है।

५—"अच्छा, देश के भीतर कौन पद तुमको दिया जा सकता है?" चाहे जिस पद पर मुझे प्रतिष्ठित करो, देखना जिसमें उससे मेरा धर्म्म, मेरी ईश्वर-भक्ति का लोप न होने पावे। किन्तु देश का काम करूँगा, ऐसा सोचकर यदि इन सब का परित्याग करूँ, यदि देश को अधर्म्म और पाप में निमग्न करूँ तो मेरे द्वारा देश का क्या काम हुआ ?

अभ्यास और साधना

१—अपनी प्रत्येक शक्ति को—प्रत्येक वृत्ति को यदि हम लोग काम में लावें तभी वह परिरक्षित और परिवर्द्धित हो सकती है। चलने की शक्ति चलने से, दौड़ने की शक्ति दौड़ने से बढ़ती है। यदि तुम किसी चीज को उत्तम रूप से आवृत्ति करना चाहो, तो बार-बार उसकी आवृत्ति करनी होगी; यदि सुन्दर लिखना चाहो, तो बार-बार लिखना होगा। यदि एक महीने तक तुम ऊँचे स्वर से आवृत्ति न करो—आवृत्ति न करके और कुछ करो—तो देखोगे कि उसका फल क्या होता है। यदि तुम दस दिन तक बिछावन पर पड़े रहने के बाद एक दिन बहुत दूर चलने की चेष्टा करो, तो देखोगे कि तुम्हारे पाँव दुर्बल हो गये हैं। मोटी बात

यह है कि यदि तुम किसी विषय में दक्षता प्राप्त करना चाहो तो उसे व्यवहार में लाओ और यदि किसी विषय से निवृत्त होना चाहो तो एकबारगी ही उसे मत करो। उसके बदले में और कुछ करो।

२—आध्यात्मिक विषयों में भी ठीक यही हाल है। यदि तुम एक बार क्रोध करो तो समझ लेना कि उससे तुम्हारा केवल एक बार ही अनिष्ट नहीं हुआ—बल्कि तुम्हारा अनिष्ट की ओर झुकाव हुआ—तुमने आग में घी की आहुति प्रदान की। यदि तुम काम के द्वारा अभिभूत हुए तो यह न समझना कि कामदेव ने तुम्हारे ऊपर एक ही बार विजय प्राप्त की; परन्तु इसके द्वारा तुमने अपनी इन्द्रिय-दुर्बलता को परिपुष्ट और परिवर्द्धित किया। कारण, कार्य के द्वारा ही शक्ति-समूह—वृत्ति-समूह विकसित होते हैं, प्रबल होते हैं, व्याप्त होते हैं। तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं कि इसी प्रकार आत्मा की भी पाप-प्रवणता बढ़ती है। यदि तुम्हें कभी धन का लोभ हो और उसी समय यदि तुम धर्म्म-बुद्धि की शरण लो तो इससे तुम्हारे लोभ का भी दमन होगा और तुम्हारी धर्म-बुद्धि भी बल प्राप्त करके अपने पद पर पूर्ववत् सुप्रतिष्ठित होगी। किन्तु यदि तुम धर्म्म-बुद्धि को शरण न लो तो अपनी आत्मा की पूर्ववत् निर्म्मल अवस्था तुम्हें फिर न मिलेगी। दूसरी बार जब कोई प्रलोभन सामने आयगा, तभी पहले की अपेक्षा और भी शीघ्र तुम्हारी वासना की आग जल उठेगी। जो आदमी एक बार ज्वर-रोग से पीड़ित हुआ है उसका ज्वर छूट जाने पर भी—पूर्ण-रूप से आरोग्यता प्राप्त किये बिना—वह अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त नहीं करता। आत्मा के रोग में भी ऐसा ही हुआ करता है। रोग के दूर होने पर भी आत्मा में जो क्षतचिन्ह रह

जाते हैं उन सब क्षतचिन्हों को यदि एकबारगी निर्मूल न करो और उस स्थान पर यदि फिर कभी पाप की आँच लगे तो उस समय वह क्षतचिन्ह-समूह चिन्हमात्र नहीं रहते, उस समय उस जगह 'दगदगे घाव' हो जाते हैं।

३—"मेरा क्रोधी स्वभाव चला जाय"—ऐसी यदि तुम्हारी इच्छा हो तो उसकी प्रवृत्ति का पोषण मत करना—ऐसी कोई आहुति प्रदान न करना जिससे वह और भी जल उठे। पहले से ही शान्त भाव धारण करो और विना क्रोध के कितने दिन वीते इसकी गणना करते रहो। "इस वार मैं एक दिन क्रुद्ध नहीं हुआ—इस वार दो दिनों तक क्रुद्ध नहीं हुआ—इस वार तीन दिनों तक क्रुद्ध नहीं हुआ"—इस प्रकार यदि ३० दिनों तक विना क्रुद्ध हुए रह सको तो देवता के उद्देश्य से यज्ञादि का अनुष्ठान करना। इसी प्रकार कार्य करने से प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे दुर्बल होकर एकबारगी निर्मूल हो जायँगी।

४—"इसमें सुसिद्ध किस प्रकार हुआ जा सकता है?" आत्म-प्रसाद लाभ करूँगा—ईश्वर के सामने निष्कलंक सुन्दर रहूँगा—ऐसा दृढ़ संकल्प हृदय में धारण करो। मैं अपनी निर्मल अन्तरात्मा के निकट निर्मल रहूँगा—ईश्वर के निकट विशुद्ध रहूँगा—सच्चे दिल से इस प्रकार इच्छा करो। पीछे यदि किसी प्रलोभन में पड़ जाओ तब क्या करोगे? प्लेटो क्या कहते हैं, सुनो—"पुण्य-कर्म का अनुष्ठान करो, दुर्बल के सहायक और आश्रय देवताओं के मन्दिर में जाकर प्रार्थना करो।" क्या मृत और क्या जीवित सब प्रकार के ज्ञानी और साधु लोगों का सहवास करो, ऐसा करने से भी यथेष्ट लाभ होगा।

५—इन सब उपायों का अवलम्बन करने से तुम प्रलोभन को जीत सकोगे—प्रलोभन से पराजित न होओगे। किन्तु पहले से ही प्रलोभन के प्रबल वेग में न बह जाना। पहले ही उसे इस प्रकार कहना—"रे प्रलोभन! ज़रा ठहर जा; पहले मैं देख लूँ कि तू क्या वस्तु है और तेरा काम कैसा है—तुझे एक बार जाँच लूँ।" प्रलोभन के वशीभूत होने के पहले एक बार मन ही-मन कल्पना करके देखो कि उसका अन्तिम परिणाम क्या है। यदि ऐसा न करो तो वह तुम्हारे मन पर अधिकार जमा लेगा और जहाँ चाहेगा वहाँ तुम्हें ले जायगा। और एक काम करो—इस नीच प्रलोभन के विरुद्ध एक उच्चतर महत्तर प्रलोभन को लाकर अपने सम्मुख खड़ा करो और उस उच्च प्रलोभन की सहायता से इस नीच प्रलोभन को दूर कर दो। यदि तुम इस प्रकार के आयास का साधन करो तो देखोगे कि तुम्हारा कन्धा, तुम्हारी मांसपेशियाँ, तुम्हारे पट्ठे कैसे बलिष्ठ और दृढ़ होते हैं। किन्तु ऐसा करने से केवल बात-ही-बात रह जायगी—बात के सिवा और कुछ भी न होगा।

६—वही सच्चा वीर है जो इन प्रलोभनों के साथ बराबर युद्ध करता है। यही युद्ध श्रेष्ठ है, यही व्रत स्वर्गीय है जिसका फल सर्वाधिपत्य है, जिसका फल स्वाधीनता है, जिसका फल सौभाग्य-समृद्धि है, जिसका फल चित्त की शांति है। ईश्वर का स्मरण करो, उसकी सहायता की प्रार्थना करो, उसकी शरण लो, तूफ़ान के समय मल्लाह, जैसे वरुण देव को पुकारता है, वैसे ही इस प्रलोभन-रूपी तूफ़ान में ईश्वर को पुकारो। जिस तूफ़ान में विवेक-बुद्धि पराभूत और विचलित हो जाती है, उसकी अपेक्षा

प्रबल तूफ़ान और क्या है ? और जिसको तुम तूफ़ान कहते हो वही क्या है ? वह भी तो एक प्रतीतिमात्र—एक आभासमात्र है। उसमें से मृत्यु-भय हटा लो—देखोगे कि कितने ही वज्र-विद्युत् हों तो भी आकाश अतीव निर्मल रहता है—देखोगे कि आत्मा की प्रकाशिका वही विवेक-बुद्धि कैसी स्थिर और प्रशान्त रहती है। किन्तु एक बार पराभूत होकर उसके बाद यदि तुम कहो कि "इस बार मैं विजयी होऊँगा" और प्रत्येक बार यदि तुम यही एक ही बात कहते रहो तो निश्चय जानना—अन्त में तुम्हारी एक ऐसी हीन दशा उपस्थित होगी—तुम्हारी ऐसी दुर्बल अवस्था आ पहुँचेगी कि उस समय तुम्हें यह भी मालूम न होगा कि तुम पाप कर रहे हो, उस समय तुम उसी पाप-कार्य के लिए अनेक प्रकार के बहाने खोजते रहोगे, उस समय हेसियड की इस उक्ति की सत्यता प्रमाणित होगी—

"दीर्घसूत्री युद्ध में अनरथ अशेष सदा करें"

७—तब क्या मनुष्य इस प्रकार दृढ़ सङ्कल्प करके सदैव निर्दोष रह सकता है ?—नहीं, वैसा नहीं रह सकता। तो भी निर्दोषिता की ओर अग्रसर होने के लिए क्रमागत चेष्टा करना—अन्ततः इतना मनुष्य कर सकता है। अपनी चेष्टा से तनिक भी विरत न होकर, तनिक भी शिथिलता न दिखाकर यदि अन्ततः दो चार दोषों से भी हम छुटकारा पा सकें तो हम लोगों का परम सौभाग्य होगा। तुम जो अभी कहते हो कि "कल से मैं सावधान होऊँगा" इस बात का अर्थ तो यह है—"आज मैं निर्लज्ज होऊँगा, दुराग्रही होऊँगा, नीच होऊँगा, आज मुझे दूसरे को कष्ट देने का सामर्थ्य होगा, आज मैं क्रोध के वशीभूत

होऊँगा, ईर्षा के वशीभूत होऊँगा।" देखो, कितने पापों को तुम बुला रहे हो ! कल के लिए यदि कोई काम अच्छा समझते हो तो उस काम को आज ही करना क्या और भी अच्छा नहीं है ? यदि कोई काम कल करने के योग्य हो तो उसको आज ही करना क्या और भी योग्य नहीं है ? आज उस काम को करना, इसलिए और भी उचित है कि ऐसा करने से कल तुम उस काम को करने के लिए और भी अधिक योग्य होओ—उसे करने के लिए और भी अधिक बल प्राप्त करोगे; ऐसा होने से फिर उसे अगले दिन के लिए उठा न रखोगे।

मनुष्य के भीतर ईश्वर

१—ईश्वर हितकारी है। मङ्गल भी हितकारी है। अतएव यही सम्भव है कि जहाँ ईश्वर का सरांश है वहीं मङ्गल का भी सारांश होगा। ईश्वर का सारांश क्या है ?—मेद, मज्जा, मांस ? नहीं, यह नहीं हो सकता। —भू, सम्पत्ति ?—नहीं, यह भी नहीं। यश ? नहीं, यह भी नहीं। आत्मा ?—हाँ, यही। यही मंगल का भी सारांश है। इसे क्या तुम उद्भिज्ज के भीतर खोजकर पा सकते हो ?—कभी नहीं। किसी अज्ञान जीव के भीतर पाओगे ? कभी नहीं। तब बुद्धिज्ञान-सम्पन्न जीव और अज्ञान-जीव इन दोनों में जो भेद है, उस भेद के भीतर इसकी खोज न करके अब भी क्यों अन्यत्र इसकी खोज करते हो ?

२—उद्भिज्जगण इन्द्रिय-प्रतीति के अनुसार काम नहीं करते

अतएव इनके सम्बन्ध में मंगल अमंगल की बात मैं नहीं करता। जिन्हें इन्द्रिय-प्रतीति के अनुसार कार्य करने की शक्ति है, मंगल की बात उन्हीं के सम्बन्ध में घटती है। क्या केवल यही ? नहीं, केवल यही नहीं। क्योंकि यदि ऐसा हो, तब तो कहना पड़ेगा कि शुभ और अशुभ निकृष्ट जीवों के भीतर भी है। किन्तु तुम कभी यह बात नहीं कहोगे और तुम्हारी बात ही ठीक है। कारण, यद्यपि वह सब सर्वथा इन्द्रिय-प्रतीति के अनुसार चल सकते हैं, तथापि वे उसके फलाफल का पर्यवेक्षण और विचार करने में असमर्थ हैं और यही उन लोगों के लिए स्वाभाविक है। वे दूसरों की सेवा के लिए हैं। उनका अपना कोई महत् उद्देश्य नहीं है। गधों के जीवन का परम उद्देश्य क्या है ? दूसरे का बोझा ढोना ही उनका एकमात्र काम है। दूसरे के प्रयोजन के लिए ही उन्हें रास्ता चलना होता है और इसलिए ही उन्होंने इन्द्रिय-प्रतीति के अनुसार काम करने की शक्ति पाई है। ऐसा नहीं होने से वे चल नहीं सकते। परन्तु यहीं पर उसका अन्त हो जाता है। कारण, इसके साथ ही यदि इन्द्रिय-प्रतीति के प्रयोग के सम्बन्ध में पर्यवेक्षण और विचार करने की शक्ति उनमें होती तो वे न्यायतः हम लोगों के अधीन नहीं होते, हम लोगों की सेवा में नियुक्त नहीं होते। ऐसा होने से वे हम लोगों की बराबरी के होते—हम लोगों के समान होते।

३—व्यवहार करना एक बात है और पर्यवेक्षण तथा अनुशीलन करना दूसरी बात है। दूसरे सब जीव केवल इन्द्रिय-प्रतीति के अनुसार कार्य करेंगे; किन्तु हम लोग अपनी इन्द्रिय-प्रतीतियों का पर्यवेक्षण करेंगे—अनुशीलन करेंगे, यही ईश्वर का

अभिप्राय है। इसीसे आहार, निद्रा और मैथुन—यह सब काम ही उनके लिए यथेष्ट हैं। किन्तु ईश्वर ने हम लोगों को अनुशीलन और पर्यवेक्षण करने की शक्ति दी है, इसीसे हम लोगों के लिए वह सब यथेष्ट नहीं हैं। किन्तु यदि हम लोग किसी एक विशेष अनुशासन और नियम के अनुसार बाह्य प्रकृति और मानव-प्रकृति का मेल रखकर न चलें, तो हम लोग अपने जीवन के उद्देश्य का साधन करने में कभी समर्थ न होंगे। कारण, जहाँ दैहिक प्रकृति विभिन्न होगी, वहाँ कार्य और उद्देश्य भी विभिन्न होंगे। यदि कोई दैहिक प्रकृति केवल इन्द्रिय-प्रतीति के अनुसार चलने के योग्य हो, तब वहाँ उसके लिए यथेष्ट होगा। किन्तु जहाँ पर इन्द्रिय-प्रतीति के व्यवहार के सम्बन्ध में पर्यवेक्षण और अनुशीलन आवश्यक है, वहाँ पर पर्यवेक्षण और अनुशीलन की शक्ति का यथार्थ प्रयोग किये बिना प्रकृत उद्देश्य की सिद्धि न होगी। तब तुम क्या कहना चाहते हो? ईश्वर ने अन्यान्य जीव-जन्तुओं की सृष्टि विशेष-विशेष कार्य के लिए की है—किसी को जमीन जोतने के लिए, किसी को दूध देने के लिये और किसी को बोझ ढोने के लिए। इन्द्रिय-प्रतीति के सम्बन्ध में पर्यवेक्षण और अनुशीलन करने की—भेदाभेद का निर्णय करने की—उन्हें क्या आवश्यकता? किन्तु ईश्वर और उसकी रचना का साक्षी-स्वरूप—केवल साक्षी ही नहीं—व्याख्याता-स्वरूप मनुष्य इस संसार में आया है अतएव दूसरे मूढ़ जीव-समूह जो काम करते हैं केवल उतना ही करके रह जाना मनुष्य के लिए बड़ी लज्जा की बात है। दूसरे जीव जहाँ से कार्य आरम्भ करते हैं मनुष्य भी वहीं से आरम्भ करे; किन्तु मानव-प्रकृति का जहाँ पर अन्त होता है वहाँ तक पहुँचकर

ही जिसमें वह अपना कार्य समाप्त करे, इसका ध्यान रखना चाहिए ! हम लोगों की प्रकृति का अन्त कहाँ पर होता है ?—ध्यान धारणा में। इन्द्रिय-प्रतीति के साथ कैसे मेल होगा, इसके लिए हम लोगों की प्रकृति बराबर ही चेष्टा और अनुशीलन करती रहती है। ऐसा न हो कि इन सब बातों को बिना देखे-सुने ही तुम लोग इस लोक से चले जाओ।

४—किन्तु तुम्हारे करने का अभिप्राय क्या है ? यह सब दूसरे जीव भी क्या ईश्वर की सृष्टि नहीं हैं ? अवश्य ही ईश्वर की सृष्टि हैं। ईश्वर की परा-सृष्टि नहीं हैं। उनके भीतर ईश्वरांश नहीं है। किन्तु तुम एक श्रेष्ठ पदार्थ हो। तुम ईश्वर के एक अंश हो। किस उच्च कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है, सो क्या तुम नहीं जानते ? क्या तुम नहीं जानते कि तुम कहाँ से आये हो ? जब तुम भोजन करते हो तब क्या तुम्हें स्मरण नहीं होता कि कौन भोजन करता है ? —भोजन करके तुम किसका पोषण करते हो ? बात-चीत से, आहार-विहार से, काम-धंधे से तुम जो एक खण्ड-ईश्वर का पोषण कर रहे हो, उसे परिचालित कर रहे हो—यह क्या तुम नहीं जानते ? अभागे मनुष्य ! एक खण्ड-ईश्वर को अपने भीतर धारण करके तुम अपने साथ-साथ उसे सर्वत्र लिये फिरते हो—यह तुम नहीं जानते ? क्या तुम समझते हो कि मैं किसी स्वर्णमय या रजतमय ईश्वर की बात करता हूँ जो तुम्हारे बाहर अवस्थित है ? नहीं, यह बात नहीं है। अपने भीतर ही तुम उन्हें लिये चलते हो, अतएव देखना जिसमें तुम्हारी कोई अपवित्र चिन्ता—कोई निन्दनीय कार्य उनके पवित्र सिंहासन को कलङ्कित न करे। तुम अभी जो करते हो उसे तुम

ईश्वर की किसी प्रतिमूर्ति के निकट करने का साहस नहीं करते। किन्तु तुम्हारे भीतर ईश्वर स्वयं विराजमान हैं। वह सभी देखते हैं, सभी सुनते हैं। उनके सामने इस प्रकार की चिन्तायें अथवा यह सब कार्य करते हुए क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती ? हे अपनी प्रकृति को न जाननेवाले मनुष्य, सावधान ! जिसमें तुम्हें ईश्वर की रुद्रमूर्ति—संहार-मूर्ति देखनी न पड़े।

५—तब हम लोग युवकों को विद्यालय से जीवन के कार्य-क्षेत्र में भेजने में इतना भय क्यों करते हैं ? कहीं वे कोई अनुचित काम करें, विलासी और लम्पट हो जायँ, फटे कपड़े पहनने में अपनी हीनता समझें, अच्छे वस्त्र पहनने से उद्धत हो उठें—इस प्रकार की अनेक आशङ्कायें हम लोगों को हुआ करती हैं। जो इस तरह भय करता है वह अपने ईश्वर को नहीं जानता, नहीं जानता कि वह किसके साथ जा रहा है। यदि कोई मुझसे कहता है—"गुरुदेव ! आप यदि मेरे साथ रहते तो मुझे कोई भय नहीं होता।" तो ऐसी बात से मेरा धैर्य छूट जाता है। क्यों भाई ! तुम्हारा ईश्वर क्या तुम्हारे साथ नहीं है ? उन्हें पाकर भी तुम दूसरे का सङ्ग क्यों खोजते हो ?

६—तुम यदि प्रसिद्ध मूर्तिकार "फिडियस" द्वारा निर्मित कोई देव-प्रतिमा होते, तो तुम अपने सम्बन्ध में भी तनिक विवेचना करके चलते और अपने बनानेवाले मूर्तिकार के सम्बन्ध में भी तनिक विवेचना करके चलते और यदि तुम में चैतन्य होता तो तुम अपने बनानेवाले के अयोग्य कोई काम नहीं करते, कोई ख़राब पोशाक पहनकर उसके सामने नहीं आते। किन्तु जिन्होंने तुम्हारी सृष्टि की है उन ईश्वर के निकट तुम किस रूप में आते

हो, इस ओर तुम आँख उठाकर भी नहीं देखते। सो क्या यह शिल्पी दूसरे शिल्पियों के समान हैं? क्या इनकी रचना अन्य शिल्पियों की रचना के समान है? यह कैसी अपूर्व रचना है जिसमें रचयिता की रचना-शक्ति उसकी रचना के भीतर भी मौजूद है। दूसरे मूर्तिकार लोग पत्थर या धातु की मूर्तियाँ गढ़ते हैं। "फिडियस" ने विजय-लक्ष्मी की जो मूर्ति गढ़ी थी, वह एक ही स्थान में खड़ी रहती है। किन्तु ईश्वर-निर्मित मूर्तियों में चलने की शक्ति है, बोलने की शक्ति है, श्वास-प्रश्वास की शक्ति है—वह सब इन्द्रिय-प्रतीति का व्यवहार और विचार करने में समर्थ हैं। वह ऐसा शिल्पी है जिसकी तुम रचना हो—क्या तुम उनका अपमान करोगे? उन्होंने केवल तुम्हारी रचना ही नहीं की है; बल्कि अपनेको (बालक के रूप में) तुम्हारे हाथ में रख दिया है—समर्पण कर दिया है। क्या तुम इस बात का भी स्मरण नहीं रखोगे? तुमने जिसकी रक्षा का भार ग्रहण किया है उसकी क्या तुम अवहेलना करोगे? विचार करो, ईश्वर यदि किसी अनाथ को तुम्हारे हाथ में सौंप देते तो क्या तुम उसकी अवहेलना करते? अब अपने को तुम्हारे हाथ में सौंपकर वे कह रहे हैं—"तुम से बढ़कर विश्वासयोग्य आदमी मेरा और कोई नहीं है, इस मनुष्य की प्रकृति ने जिस भाव से रचना की है, ठीक उसी भाव से तुम इसकी रक्षा करना—इसको भक्तिवान्, श्रद्धावान्, उन्नत, शान्त, दान्त, निर्भय बनाकर रखना।" किन्तु तुम ऐसा कभी नहीं करते। यह कैसे आक्षेप की बात है!

विरह-विच्छेद

१—दूसरे किसी आदमी के दाप से तुम्हारा अनिष्ट होगा, ऐसा अपने मन में न सोचो। इसलिए तुम्हारा जन्म नहीं हुआ है कि तुम दूसरे के साथ रहकर असुखी होओ, बल्कि तुम इसलिए उत्पन्न हुए हो कि दूसरे के साथ रहकर सुखी होओ, सौभाग्यवान् होओ। यदि कोई दुर्भाग्य से असुखी हो, तो उसे जानना चाहिए कि यह उसके अपने किये कर्म्म का फल है। कारण, ईश्वर ने सब मनुष्यों को सुखी बनाने के लिए ही उत्पन्न किया है—सबको ही अच्छी अवस्था में रखा है। इस अभिप्राय से उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी कितनी ही चीजें दी हैं जो उनकी अपनी हैं और कितनी ऐसी चीजें दी हैं जो उनकी अपनी नहीं हैं। जो सब वस्तुएँ प्राकृतिक बाधा के अधीन हैं, अनिवार्य शक्ति के अधीन हैं, विनाश के अधीन हैं, वह उसकी अपनी वस्तुएँ नहीं हैं, इससे भिन्न जो वस्तुयें हैं वही उसकी अपनी हैं। जो सदैव हम लोगों की रक्षा और देखभाल करते हैं, पिता की तरह हम लोगों का पालन करते हैं, उन ईश्वर ने ऐसी कितनी ही वस्तुओं को हमारी अपनी सम्पत्ति बना दी है जिन पर हम लोगों का प्रकृत मङ्गल निर्भर करता है।

२—"किन्तु मैं अमुक को छोड़ आया इसलिये वे कष्ट पा रहे हैं।" जो सब वस्तुएँ उनकी अपनी नहीं हैं उन्हें वे अपनी क्यों समझते हैं? तुम्हें देखकर जब उन्हें आनन्द होता था उस समय क्या उन्होंने विचारा नहीं कि तुम मर्त्यजीव हो, किसी दिन दूसरे लोक को चले जाओगे? इसीसे वे अब अपनी ना-समझी

का फल भोगते हैं। किन्तु तुम क्यों रोते हो? अबोध स्त्री की तरह क्या तुम भी यही सोचते हो कि तुम अपनी प्रिय वस्तु के साथ चिरकाल तक एकत्र वास कर सकोगे? उन सब प्रियजनों को देख नहीं सकते हो, उन सब प्रिय स्थानों में जा नहीं सकते हो, क्या इसीलिए तुम इस समय रो रहे हो? तब तो तुम कौओं से भी बढ़ कर अभागे हो। वह सब जहाँ चाहते हैं वहाँ उड़ जाते हैं, अपना खोता बदल लेते हैं, समुद्र के पार चले जाते हैं—जो-कुछ पीछे छोड़ जाते हैं उसके लिए विलाप नहीं करते—उसके लिये लालायित नहीं होते।

"हाँ, वह सब ऐसे ही हैं क्योंकि वे बुद्धिहीन जीव हैं।" तब क्या देवताओं ने हम लोगों को बुद्धि-विवेचना इसलिए दी है कि हम लोग चिरकाल के लिए असुखी हों? अच्छा, तब आओ, हम लोग सभी अमर हों, कभी विदेश में न जायँ, वृक्षादि की भाँति एक ही स्थान पर अड़े रहें। यदि हम लोगों का कोई साथी हमें छोड़कर चला जाय तो हम उसके लिए केवल बैठे-बैठे रोया करें; और पुनः उससे लौट आने पर छोटे बच्चों की तरह ताली बजाकर नाचें!

३—तो क्या हम लोग अभी तक दुधमुँहे बच्चे ही हैं? तत्त्व-ज्ञानियों की बात का क्या अब भी हम लोग स्मरण न करेंगे? तो क्या इतने दिनों तक हम लोग इन्द्रजाली के मंत्र की भाँति उन लोगों की बातें सुनने आये हैं? क्या उन्होंने यह बात नहीं कही थी?—यह सारा संसार एक अखण्ड शासन-तन्त्र के अधीन है, एक ही उपादान से बना हुआ है। अतः इसका एक निर्दिष्ट कालचक्र, एक निर्दिष्ट कल्पकाल अवश्य ही होगा। कितने ही

पदार्थ चले जायँगे और कितने ही पदार्थ उनके स्थान पर अधिकार करेंगे। कितनों का तिरोभाव और कितनों का ही आविर्भाव होगा। कितने ही अचल भाव से और कितने ही सचल भाव से अवस्थान करेंगे। किन्तु यह जान रखना कि सभी पदार्थ देवता और मनुष्य के प्रेम से परिपूर्ण हैं। प्रकृति के नियम से सभी एक दूसरे के साथ स्नेह-ममता के बन्धन में बँधे हैं। किन्तु चिरकाल-तक एकत्र रहना भी प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है। जितने दिनों-तक एक साथ रह सको उतने दिनोंतक आनन्द करो; किन्तु कोई तुम्हें छोड़कर चला जाय तो परिताप न करो।

४—हर्कुलिस ने सम्पूर्ण पृथ्वी पर भ्रमण किया था, किन्तु उस समय कितने आदमी उनके बन्धु थे? वह अपने पुत्रों को छोड़कर चले गये थे, किन्तु इसके लिए उन्होंने विलाप नहीं किया—परिताप भी नहीं किया—वह लोगों को अनाथ करके भी नहीं गये थे। कारण, वह जानते थे कि कोई आदमी अनाथ नहीं होता, एक परम पिता हैं जो सब की रक्षा और देख-भाल करते हैं। हर्कुलिस ईश्वर को केवल सबके पिता की तरह नहीं जानते थे, वह उन्हें विशेष रूप से अपना पिता जानते थे। इसी कारण वह सभी जगहों में सुख के साथ अपना समय बिताने में समर्थ हुए थे।

५—सुख और जो तुम्हारे पास नहीं है उसकी आकांक्षा—यह दोनों एक साथ कभी रह नहीं सकते। सुख सब वासनाओं की पूर्ति चाहता है—पूर्ण परितृप्ति चाहता है। उसके साथ भूख-प्यास का रहना हो नहीं सकता। ऐसा कौन साधु मनुष्य है जो अपनेको नहीं जानता? जो अपनेको जानता है वह क्या यह

बात भी नहीं जानता कि दो आदमी कभी चिरकाल तक एकत्र नहीं रह सकते ? वह क्या नहीं जानता कि "जिसका जन्म होता है उसीकी मृत्यु होती है ?" जिसका पाना असम्भव है उसके लिए आकांक्षा करनी क्या पागलपन नहीं है ? जो इस तरह की आकांक्षा करता है वह ईश्वर के विरुद्ध संग्राम करता है। वह ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य नहीं करता, वह अपनी भ्रान्त प्रतीति के अनुसार ही कार्य करता है।

६—"किन्तु मेरी मा जो मुझे नहीं देखने से रोने लगती है।" तो क्या उन्होंने यह सब उपदेश-वाक्य कभी नहीं सुने ? तब तुम उन्हें समझाने की चेष्टा करो। इसके सिवा तुम और क्या कर सकते हो। दूसरे का दुःख दूर करना पूर्ण करना पूर्ण रूप से हम लोगों के अधिकार में नहीं है। किन्तु अपना दुःख दूर करना सम्पूर्ण रूप से हम लोगों की साधना के अधीन है। किसी अनिवार्य प्राकृतिक घटना के लिए विलाप करना ईश्वर-विरुद्ध संग्राम करना होगा; ऐसा करने से दिन-रात हमारा मन अशान्त रहेगा। निस्तब्ध रात्रि में यदि कोई खबर आवे, किसी के यहाँ से पत्र आवे, तो हम लोग बिछावन से उछल पड़ते हैं और न जाने कैसी खबर आई है, यह सोचकर काँपने लगते हैं। "रोम से एक आदमी पत्र लेकर आया है"—"यदि कोई अशुभ समाचार हो।" जब तुम उस जगह पर नहीं हो तो तुम्हारा क्या अशुभ हो सकता है।" ग्रीस से पत्र आया है"—"कोई अशुभ संवाद तो नहीं है ?"—इस प्रकार सब स्थान ही तुम्हारे लिए अमंगल-सूचक हो उठते हैं। जहाँ तुम मौजूद हो उसी जगह का अशुभ क्या तुम्हारे लिए यथेष्ट नहीं है ? समुद्र पार में भी क्या तुम्हारा

निस्तार नहीं है ? पत्रादि से भी क्या तुम्हारा निस्तार नहीं है। तब तुम कहाँ जाकर निरापद होओगे ? "मेरे जो सब आत्मीय बन्धु विदेश में हैं उनकी यदि मृत्यु हो, तो क्या होगा ?" विधाता के अखण्डनीय नियमानुसार जो सब जीव मृत्यु के अधीन हैं, उनकी मृत्यु एक समय अवश्य ही होगी। तुम इसमें क्या करोगे ? तब तुम दीर्घजीवी होने की इच्छा क्यों करते हो ? बहुत दिनों तक जीने से किसी-न-किसी प्रिय-जन की मृत्यु क्या तुम्हें देखनी नहीं पड़ेगी ? तुम क्या नहीं जानते कि दीर्घकाल के बीच में कैसी-कैसी घटनायें हो सकती हैं ? कोई ज्वर-रोग से, कोई शत्रु के हाथ से और कोई राजा के उत्पीड़न से अपनी जीवन-लीला समाप्त करेगा। यह सब हमारे घेरे हैं—यही सब हमारे संगी-साथी हैं। जाड़ा, गर्मी, अनुचित रूप से जीवन बिताना, जल और स्थल का भ्रमण, अन्धड़-तूफ़ान—इस तरह कितनी ही अवस्थाओं में पड़कर मनुष्य काल का कवल होता है। कोई देश-निकाले में, कोई दूत-कार्य में और कोई रणभूमि में जाकर प्राण त्याग करता है। तो तुम इन सबसे डरकर चुपचाप घर में बैठे रहो, केवल विलाप करो, रोओ, दुःखी होओ, दूसरे के ऊपर निर्भर किये रहो—एक नहीं, दो नहीं, हज़ारों बाहरी घटनाओं पर निर्भर किया करो।

८—तो क्या तुमने यही सुना है ? तत्त्वज्ञानियों से यही उपदेश प्राप्त किया है ? तुम क्या जानते नहीं कि यहाँ संग्राम ही इस जीवन का एक मात्र कार्य है ? सेनापति तुम्हें कोई कठिन कार्य करने की आज्ञा दे, उस समय यदि तुम दुःख प्रकाश करो-यदि तुम उस आज्ञा का पालन न करो, तो वह सम्पूर्ण सैन्यमण्डली को कैसा बुरा उदाहरण दिखाना होगा, सो क्या तुम नहीं जानते ?

ऐसा करने से तुम्हारा उदाहरण देखकर कोई खाई नहीं खोदेगा, घेरा नहीं बनायेगा, पहरा नहीं देगा—कोई विपद् की ओर अग्रसर नहीं होगा, सभी अकर्म्मण्य हो जायँगे। ऐसे ही जहाज के माझी होकर यदि तुम एक ही जगह बैठे रहो, मस्तूल पर चढ़ने को कहा जाय तो न चढ़ो, गलही की ओर जाने को कहा जाय तो न जाओ, तब किस जहाज का कप्तान तुम्हारे सम्बन्ध में धैर्य्य धारण कर सकेगा?—वह क्या बाधा समझकर, कार्य का बाधक समझ कर, दूसरे माझियों के लिए कुदृष्टान्त समझ कर तुम्हें जहाज़ से निकाल न देगा?

८—इसी प्रकार यहाँ भी प्रत्येक मनुष्य के जीवन का एक प्रकार का दीर्घकाल-व्यापी संग्राम समझना—वह विचित्र घटनाओं से पूर्ण है। यहाँ सभी को सैनिक बनना होगा, सेनापति का इशारा होते ही कायरता छोड़कर सब आदेशों का पालन करना होगा। यही नहीं, कभी-कभी इसका भी अनुमान कर लेना होगा कि उनके मन का अभिप्राय क्या है। सेनापति जहाँ जाने को कहेंगे वहीं जाना होगा। तुम क्या उद्भिज्जों की तरह एक ही स्थान पर गड़कर रहना चाहते हो? हाँ, उसमें आराम है, सुख है। इसको कौन अस्वीकार करता है? स्वादिष्ट भोजन क्या सुख की सामग्री नहीं है? सुन्दरी स्त्री क्या सुख की सामग्री नहीं है? जो लोग नीच पाशव सुख में आसक्त हैं उन्हीं लोगों के मुँह में ऐसी बात शोभा पाती है।

९—इन सब नीच वासनाओं का त्याग करो। इन सब विलासी लोगों के दृष्टान्तों का अनुसरण मत करो। बेखटके अच्छी तरह सोयेंगे, बिछावन से उठकर आलसी की तरह जँभाई लेंगे, मुँह हाथ

सोयँगे, इच्छानुसार लिखेंगे-पढ़ेंगे, उसके बाद तुच्छ बातचीत में कुछ समय बितावेंगे, हम जो कहेंगे उसी में बन्धुगण हमारी प्रशंसा करेंगे, उसके बाद ज़रा घूमने के लिए बाहर जायँगे, उसके बाद स्नान, उसके बाद भोजन, उसके बाद फिर विश्राम करेंगे—इसके सिवा उन लोगों की क्या और कोई आकांक्षा है ? हे सुकरात और डायोजिनिज के शिष्य और सत्य के सेवकगण ! क्या तुम लोग इसी प्रकार के जीवन को वांछनीय समझते हो ?

१०—"तो क्या मैं माया-ममता का परित्याग करूँ ?" मनुष्य दीन-भाव से विलाप करे, दूसरे के ऊपर सर्वथा निर्भर करे, किसी दुर्घटना के उपस्थित होने पर ईश्वर पर दोषारोपण करे—यह विवेक-सम्मत कार्य नहीं है। विवेक के आधीन होकर स्नेह-ममता करो।

किन्तु इस प्रकार स्नेह-ममता करने जाकर यदि दासता की बेड़ी में बँध जाओ, तो वह तुम्हारे लिए लाभदायक न होगा। किसी मरणशील मर्त्यजीव को जिस भाव से प्यार किया जा सकता है, उसी प्रकार से क्यों नहीं प्यार करते—इसमें कौनसी बाधा है ? सुकरात क्या अपनी सन्तानों को प्यार नहीं करते थे ? हाँ, प्यार करते थे, किन्तु वह स्वाधीन पुरुष की तरह प्यार करते थे। वह समझते थे कि सब से पहले देवताओं को प्यार करना होगा। इसी से, क्या जीवन और क्या मरण, सभी अवस्थाओं में वह स्वर्गीय कर्त्तव्य का पालन करने में समर्थ हुए थे। नीच कार्यों में प्रवृत्त होकर हम लोग अनेक प्रकार के बहाने किया करते हैं। कोई सन्तान का बहाना—कोई माता का बहाना—कोई भाई का बहाना—किया करता है। किन्तु इस प्रकार बहाना करना उचित नहीं। सब के

साथ रहकर—विशेषतः ईश्वर के साथ रहकर—हम लोग सुखी हों, यही ईश्वर की इच्छा है। किसी के लिए भी हम लोग दुःखी हों, वह उनकी इच्छा नहीं है।

११—इसके सिवा, जो कुछ तुम्हें प्रिय है, उसके सम्बन्ध में क्या-क्या बाधाएँ हैं, इसकी एक बार कल्पना करके देखना। जिस समय तुम अपने छोटे बच्चे का चुम्बन करते हो उस समय उसके कान में यह बात कहने में क्या हानि है?—"बेटा! कल तू चला जायगा।" इसी तरह अपने बन्धुओं से यह बात कहने में क्या दोष है?—"चाहे तुम, नहीं तो मैं—दोनों में एक कल प्रस्थान करेगा और मालूम होता है कि अब हम लोगों की भेंट न होगी।" किन्तु यह सब तो "कुलक्षण" की बातें हैं। तो क्या तुम कहना चाहते हो कि जो-कुछ स्वभाविक सत्य है वही "कुलक्षण" है? तब ऐसा क्यों नहीं कहते—धान काटना भी "कुलक्षण" है, क्योंकि उससे धान मर जाता है; तब क्यों नहीं कहते कि पत्ते का झरना, कच्चे गूलर का सूख जाना, अंगूर का सूखकर किशमिश होना—यह सभी 'कुलक्षण' हैं। किन्तु इस प्रकार उन सबों की दूसरी अवस्था मात्र होगई है, उनका विनाश तो हुआ नहीं है। यह केवल एक परिवर्तन है। इसी तरह विदेश-यात्रा भी एक परिवर्तन है। और मृत्यु?—वह एक और बड़ा परिवर्तन है। किन्तु यह अस्ति से नास्ति में परिवर्तन नहीं है—एक अवस्था से और एक दूसरी अवस्था में परिवर्तन मात्र है।

अकेला रहना

१—अपनेको अकेला वही समझता है जो असहाय और निरुपाय है। कारण अकेला रहने से ही अकेला रहना नहीं होता; और ऐसा भी नहीं होता कि बहुत लोगों के साथ रहने से अकेले का भाव दूर हो जाय। इसलिए जो हमारी निर्भरता का आधार है, उस भाई से अथवा पुत्र से या बन्धु से जब हम अलग होते हैं तभी अपनेको अकेला समझते हैं। शहर में इतनी बड़ी जनता, इतने घर और अटारियाँ रहने पर भी शहर में जाने पर कभी-कभी हम अपने को अकेला समझते हैं। अर्थात् मन में होता है कि मैं असहाय हूँ, मालूम होता है कि मैं ऐसे लोगों के बीच में आ पड़ा हूँ जो मेरा अनिष्ट करने में संकुचित न होंगे। घूमने के लिए बाहर निकलने पर यदि एक चोरों की जमाव के बीच में आ पड़ूँ, तो भी मुझे मालूम होता है कि मैं अकेला हूँ। विश्वासी धर्म्म-परायण हितैषी मनुष्य का दर्शन होने से ही अकेले का भाव दूर हो जाता है—जिस-किसी मनुष्य के दर्शन से ऐसा नहीं होता। यह बात सच है कि हम लोग सामाजिक जीव हैं, स्वभाव से ही हम लोगों को दूसरे के साथ एकत्र-वास करने की इच्छा होती है। किन्तु यह भी देखना आवश्यक है कि कैसे हम लोग अपने पर निर्भर करके रह सकते हैं—अपने संसर्ग से ही परितृप्त हो सकते हैं। कारण, मनुष्य अकेला ही जन्म ग्रहण करता है और अकेला ही मरता है। देखते क्यों नहीं—ईश्वर आप ही अपना साथी है, अकेला ही संसार के शासन में लगा हुआ है, अकेला ही अपने महत्-सङ्कल्प के ध्यान

में निमग्न है। इस प्रकार यदि मैं भी आप अपने साथ बातें कर सकूँ, दूसरे के संसर्ग का अभाव अनुभव न करूँ, अपने भीतर ही अपने विनोद के उपायों का संग्रह कर रखूँ, आत्म-पर्याप्त होऊँ—ईश्वर का जगत्-शासन किस तरह चल रहा है, बाह्य वस्तुओं के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध है, मेरी पहली अवस्था कैसी थी, इस समय की वर्तमान अवस्था कैसी है, कौन-कौन विषय इस समय भी मुझे क्लेश दे रहे हैं, किस प्रकार यह सब दुःख-क्लेश दूर किये अथवा कम किये जा सकते हैं, अवस्था के अनुसार किन-किन विषयों में मैं अपना उत्कर्ष साधन कर सकता हूँ—इन विषयों की आलोचना में यदि मैं लगा रहूँ तो फिर मुझे अकेला रहना न होगा।

२—हम लोग सोचते हैं—राजा ने हम लोगों को शान्ति प्रदान की है, इस समय युद्ध-विग्रह नहीं है, चोर-डाकुओं का भय नहीं है, इस समय देश के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक बिना किसी विघ्न-बाधा के भ्रमण कर सकते हैं। यह सब सत्य है; किन्तु राजा क्या ज्वर-रोग से, नौका-डुब्बी से, अग्नि के उत्पात से, भूमि-कम्प से, वज्र-विद्युत् से अथवा कामदेव से हम लोगों का छुटकारा करा सकते हैं? अथवा दुःख-शोक से, ईर्षा से हम लोगों को मुक्त कर सकते हैं?—कभी नहीं। इनमें से किसी से भी वह हम लोगों की रक्षा नहीं कर सकते। किन्तु तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं कि उनकी बात मानकर चलने से इन सब दुःख-क्लेशों के बीच भी शांति प्राप्त की जाती है। तत्त्वज्ञान की आश्वास-वाणी क्या है सो सुनो—"यदि तुम लोग मेरी बात पर कान दोगे तो हे मनुष्यो! तुम लोग किसी जगह भी क्यों न रहो,

तुम्हारा शोक-ताप दूर हो जायगा, ईर्षा-द्वेष चला जायगा; फिर तुम्हें किसी रिपु के वशीभूत होना न पड़ेगा, तुम किसी विघ्न-बाधा से परास्त न होगे, सब प्रकार के अनिष्टों से मुक्त होकर तुम निरुद्विग्न चित्त से जीवन-यात्रा निर्वाह कर सकोगे।" जिन्होंने ऐसी शान्ति-सम्पद् प्राप्त कर ली है, (जिस शान्ति की घोषणा ईश्वर के सिवा और किसी पार्थिव राजा के द्वारा हो नहीं सकती) वे क्या आत्म-पर्याप्त और आप्तकाम नहीं होते? उस समय वे इस प्रकार विचार करते हैं—"अब मेरा कोई अमङ्गल हो नहीं सकता, मुझे अब शत्रुओं का भय नहीं है, भूमि-कम्प का भय नहीं है। मेरे लिए सभी पदार्थ शान्तिमय हैं;कोई पथ, कोई नगर कोई संघ, कोई पड़ौसी, कोई साथी मेरा तिलमात्र भी अनिष्ट नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्य के लिए कोई भोजन पहुँचाता है, कोई वस्त्र देता है और कोई उसके ज्ञान की सामग्री देता है—जो जिसका अधिकारी होता है वह उस का अंश देकर उसकी सहायता करता है। जब इन सब आवश्यक सामग्रियों का पहुँचना बन्द हो जायगा, उस समय समझना होगा कि उसका कार्य समाप्त हो गया—उसके प्रस्थान का समय आ पहुँचा; उसी समय उसके सामने द्वार खुल जाता है और ईश्वर उसे कहते हैं—"प्रस्थान करो"

"कहाँ प्रस्थान करेंगे?"

किसी भयङ्कर स्थान में नहीं—जिस स्थान से तुम आये हो उसी स्थान को तुम जाओगे—जो तुम्हारे आत्मीय बन्धु हैं उन्हीं पञ्चभूतों में तुम्हें मिलना होगा। तुम में जो अग्नि का अंश है वह अग्नि में, जो वायु का अंश है वह वायु में, जो जल का

अंश है वह जल में मिल जायगा। क्या पृथ्वी, क्या आकाश, क्या स्वर्ग, क्या नरक—ऐसा कोई स्थान नहीं है जो देवताओं के द्वारा, महाशक्तियों के द्वारा पूर्ण न हो। जो लोग इन सब विषयों की चिन्ता करते हैं, जो लोग चन्द्र, सूर्य, तारा, नक्षत्र देखकर परमानन्द प्राप्त करते हैं, जो लोग पृथ्वी और समुद्र को देखकर उल्लसित हो उठते हैं, वे अकेले भी नहीं, असहाय भी नहीं और निरुपाय भी नहीं होते।

"किन्तु मुझे अकेला देखकर यदि कोई मेरी हत्या करे ?"

"मूर्ख ! तुम्हारी हत्या कोई नहीं कर सकता, तुम्हारे तुच्छ शरीर की ही हत्या कर सकता है।"

३—तुम एक क्षुद्र आत्मा हो—शरीर ग्रहण मात्र किये हो।

४—फिर तुम अकेले कैसे हो ? तुम्हें किस वस्तु का अभाव है ? तब हम लोग अपने को बच्चे की अपेक्षा भी अधम क्यों बना लेते हैं ? बच्चे अकेले रहने पर क्या करते हैं ? वे सीप, घोंघी लेकर, धूल-बालू लेकर घर बनाते हैं, फिर उसे तोड़ डालते हैं, फिर बनाते हैं, इस प्रकार उनका खेल कभी समाप्त नहीं होता। और तुम्हारे चले जाने पर क्या मैं अपनेको अकेला समझकर केवल रोया करूँगा ? मुझे क्या सीप-घोंघी नहीं मिलती ? धूल-मिट्टी नहीं मिलती ? "किन्तु बच्चे तो अज्ञानी होने के कारण ऐसे कार्य करते हैं।" और तुम ज्ञानी होने के कारण अपनेको दुखी बनाते हो, यह कैसी बात है ? यह तुम्हारा कैसा ज्ञान है, कहो तो ?

बात नहीं—काम

१—अपनेको तत्त्वज्ञानी कहकर कभी प्रसिद्ध मत करना; दूसरे साधारण लोगों के सामने तत्त्वज्ञान की बातें अधिक न बोलना। तत्त्वज्ञान के जो उपदेश हैं उन्हें तुम कार्य में परिणत करो। किसी भोज में किस प्रकार भोजन करना चाहिए इस विषय में तुम्हारे जो विचार हों उन्हें वक्तृता द्वारा प्रकट करने के बदले, उचित यह है कि जिस प्रकार भोजन करना उचित है उस तरह से तुम स्वयं भोजन करो। सुकरात क्या करते थे?—वह किसी प्रकार का आडम्बर नहीं करते थे। अपनेको ज्ञानी समझकर अभिमान नहीं करते थे। उनके पास यदि कोई तत्त्व-ज्ञानी की खोज में आता तो वह उसे दूसरे के पास ले जाते। वह सब प्रकार के तिरस्कार और अनादर को ख़ुशी के साथ सह लेते।

२—यदि साधारण लोगों की बातचीत में तुम्हारे दर्शन-तन्त्र के सम्बन्ध में चर्चा चले, तो अधिकांश समय में तुम चुप ही रहना; क्योंकि उसमें एक विपत्ति की आशङ्का है—हो सकता है कि जिस विषय में अभी तक तुम्हारा ज्ञान परिपक्व नहीं हुआ है उसी को दूसरों के सामने उगल दो। यदि उस समय कोई तुम्हें कहे कि "तुम कुछ नहीं जानते," तो यदि वह बात तुम्हारे मन में न चुभे तभी जानना कि तुम में तत्त्वज्ञान का कार्य आरम्भ हुआ है।

३—भेड़ों ने कितना भोजन किया है, यह दिखाने के लिए वह सब अपने भोजन को गड़रियों के सामने लाकर नहीं रखतीं,

बल्कि उसे पचाकर बदन पर रोएँ धारण करती हैं और दूध देती हैं। उसी तरह तुम भी दूसरे साधारण लोगों को अपना तत्त्व-ज्ञान मत दिखाना, किन्तु उस तत्त्वज्ञान का परिपाक होने से जो कार्य उत्पन्न होता है उसी कार्य-फल को तुम अपने जीवन में प्रकट करना।

राष्ट्र-परिचालन

१—तुम लोगों को अपने नगर की चहारदीवारी विचित्र रङ्ग के पत्थर से बनाने की आवश्यकता नहीं है। नगर-निवासियों के मन में और राष्ट्रपति के मनमें जिसमें संयम और सुशिक्षा का पूर्ण प्रवेश हो, इसी का उपाय करो। विद्वान् लोगों के उन्नत विचारों के द्वारा ही नगरादि सुप्रतिष्ठित होते हैं—काठ-पत्थरों के द्वारा नहीं।

२—यदि तुम लोग अपने घरों को सुप्रतिष्ठित करना चाहते हो, तो स्पार्टा-नगरनिवासी लाइकार्गस के दृष्टान्त का अनुसरण करो। उन्होंने जैसे नगर को चहारदीवारी से नहीं घेरा था, परन्तु नगरनिवासियों के मनमें धर्म्म-दुर्ग की दृढ़रूप से स्थापना करके समस्त नगर को चिरकाल के लिए संरक्षित कर दिया था, उसी तरह तुम लोग भी दरबार-गृह और प्रासाद-शिखरों से नगर को न घेर कर गृह-वासियों के हृदय में पवित्र विचार, भगवद्भक्ति और मैत्री की सुप्रतिष्ठा करो। ऐसा करने से तुममें कोई अमंगल घुसने न पायगा, अमंगल की सम्पूर्ण सेना भी यदि तुम्हारे विरुद्ध खड़ी हो, तो वह कोई अनिष्ट नहीं कर सकेगी।

३—लाइकर्गस की कौन प्रशंसा न करेगा; एक नागरिक ने जब उसकी एक आँख फोड़ दी तब दूसरे नागरिकों ने उस दुष्ट युवक को दण्ड देने के लिए उनके हाथ में सौंप दिया। किन्तु लाइकर्गस ने उसे दण्ड नहीं दिया। उन्होंने उसे अच्छी शिक्षा देकर भला आदमी बना दिया और सबको दिखाने के लिए एक दिन उसे खुल्लमखुल्ला नाट्यशाला में ले गये। नगरवासियों ने जब आश्चर्य प्रकट किया तब उन्होंने उनसे कहा—"तुम लोगों के हाथ से जब मैंने इसे पाया था तब यह दुष्ट और उग्रस्वभाव का था; अब इसे शान्त-शिष्ट बनाकर मैं तुम लोगों को प्रत्यर्पण करता हूँ।"

विधाता का अनागत-विधान

पशुओं को अपनी शरीर-रक्षा के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उन्हें वे आप-ही-आप पाते हैं, उनके लिए उन्हें कुछ उपाय करना नहीं होता—खान-पान के लिए, सोने के स्थान के लिए उन्हें चिन्ता नहीं करनी होती। उन्हें न जूता चाहिए, न बेछावन चाहिए और न कपड़ा चाहिए। किन्तु हम लोगों को यह सब चाहिए। वह सब अपने लिए जीवन-धारण नहीं करते—मनुष्य की सेवा के लिए ही जीवन-धारण करते हैं। उन सब को यदि इन सब आवश्यकीय वस्तुओं को जुटाना पड़ता तो हम लोगों को न जाने कितनी असुविधा होती। गाय, भेड़ी आदि के लिए यदि रोआँ-रूपी कपड़ा और खुर-रूपी जूता हम लोगों को जुटाना पड़ता तो हम लोग कैसी कठिनाई में पड़ते! ये मनुष्य की सेवा में नियुक्त होंगे, ऐसा समझकर प्रकृति-माता

ने पहले से ही इन सबको सब तरह से सुसज्जित कर रखा है।

प्रकृति के राज्य में ऐसी एक चीज भी दिखाई नहीं देती जिससे विधाता की पूर्व-चिन्ता और पूर्व-प्रबन्ध प्रकट न हो। श्रद्धावान् कृतज्ञ मनुष्य सर्वत्र इसका अनुभव किया करते हैं। बड़े-बड़े विषयों को छोड़ दो—केवल छोटे-छोटे विषयों की आलोचना करने से भी इसका अनुभव होगा। घास से कैसे सुगन्ध उत्पन्न होती है, दूध से कैसे पनीर उत्पन्न होता है, चमड़े से कैसे पशम उत्पन्न होता है—इसका एक बार विचार करके देखो। इन सबों में किसका हाथ दिखता है? किसकी कार्य-कल्पना प्रकट होती है? तुम क्या कहोगे—"किसीकी नहीं?" यह कैसी धृष्टता है। कैसी मूर्खता है!

इस बात को समझ सकने पर क्या हम लोग उस सर्वश्रेष्ठ देवता की महिमा का कीर्तन करने से क्षणमात्र भी विरत हो सकते हैं? जब हम लोग भोजन के उद्देश्य से मिट्टी कोड़ते हैं या जोतते हैं, उस समय क्या यह कहकर उनका गुणगान नहीं करेंगे—"उस ईश्वर की महिमा अपार है जिसने हम लोगों को जमीन जोतने के लिए यह सब औजार दिये हैं; वह ईश्वर महान् है, जिसने हम लोगों को हाथ दिये हैं, पेट दिया है, खाने की चीजें दी हैं; जो हम लोगों के अनजान में ही कृषि को बढ़ाता है और सोते समय हम लोगों के श्वास-प्रश्वास को नियमित रूप से चलाता है?" उन्होंने जो हम लोगों को अपनी विश्व-रचना की आलोचना करने की शक्ति दी है, हम लोगों को यह जता दिया है कि किस राह से चलना होगा—इसके लिए क्या उनकी महिमा का कीर्तन करना मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य नहीं है?

तुम लोगों में अधिकांश आदमी अन्धे हैं—तो क्या तुम लोगों में एक आदमी भी ऐसा नहीं जो इस स्थानपर अधिकार करे? जो सबका होकर उनकी महिमा का कीर्तन करे? मैं बुड्ढा हूँ, मैं लँगड़ा हूँ, मैं ईश्वर के गुण गाने के सिवा और क्या कर सकता हूँ? मैं यदि कोयल होता, तो कोयल जो सब किया करते हैं वही मैं भी करता; मैं यदि राजहंस होता, तो राजहंस जो किया करते हैं वही मैं भी करता। किन्तु मैं जो ज्ञान-बुद्धि-सम्पन्न जीव हूँ, इससे मेरा कर्तव्य है ईश्वर की महिमा का कीर्तन करना। यही मेरे जीवन का निर्दिष्ट कार्य है, यही मैं बराबर करूँगा, इस काम को मैं कभी न छोड़ूँगा। जबतक शरीर में प्राण रहेगा तबतक मैं उनका नाम-कीर्तन करता रहूँगा और इसी नाम-कीर्त्तन के लिए मैं तुम लोगों को भी बुलाता हूँ।

विषय-सुख और आत्म-प्रसाद

कोई विषय-सुख यदि तुम्हारे सामने उपस्थित हो, तो सावधानतापूर्वक बराबर उससे अपनेको बचाना। उसके फेर में मत पड़ जाना। उसके विषय में तनिक आगा-पीछा करना, देर लगाना, अन्ततः कुछ समय के लिए उसे उठा रखना।

उसके बाद अपने मन में सोचना कि उसके दो निर्दिष्ट समय हैं। एक तो वह समय जिस समय तुम सुख का भोग करते हो और दूसरा वह समय है जिस समय उस सुख का भोग कर चुकने पर तुम्हें उसके लिए पछतावा और आत्मग्लानि होगी। इसके सिवा यह भी विचारना कि यदि तुम उस विषय-सुख से

एकदम विरत हो सको, तो तुम्हें कैसा अनिर्वचनीय आत्म-प्रसाद प्राप्त होगा ।

अन्त में यदि उचित समझो तो तुम किसी कार्य में प्रवृत्त हो सकते हो—तो भी सावधान रहना जिसमें उसका माधुर्य—उसकी मोहिनी शक्ति तुम्हें मोहित न करने पावे । दूसरी ओर यह विचार कर तुम्हें कितना आनन्द होगा कि मैंने प्रवृत्ति के ऊपर विजय प्राप्त की है ।

राजशक्ति और आत्मबल

१—यदि किसी आदमी को दूसरे की अपेक्षा अधिक सुयोग-सुविधा प्राप्त हो और यदि वह मूर्ख हो, तो वह घमण्ड से फूले बिना रह नहीं सकता । इसीसे प्रजा-पीड़क राजा अभिमान से इस प्रकार कहा करता है—"जानते हो, मैं कौन हूँ ?—मैं सबका स्वामी हूँ ।" अच्छा, तुम जो स्वामी हो—तुम मुझे क्या दे सकते हो ? मेरे कार्य की सब विघ्न-बाधाओं को क्या तुम दूर कर सकते हो ? तुम में क्या ऐसी शक्ति है ? जिस वस्तु से तुम्हें द्वेष है उसका क्या सब समय में तुम त्याग कर सकते हो ? अथवा तुम जो पाना चाहते हो उसे क्या सब समय पाया करते हो ? तुम में क्या वह दैवी शक्ति है ? सभी कार्य क्या तुम्हारे अधिकार में हैं ? जहाज पर चढ़कर तुम अपने ऊपर निर्भर करते हो या कप्तान के ऊपर निर्भर करते हो ? रथ पर चढ़कर क्या तुम्हें सारथी के ऊपर निर्भर करना नहीं होता ? इसीसे समझ लो कि तुम सब कार्यों के स्वामी नहीं हो । तब तुम्हारा स्वामित्व क्या

रहा ? "सब मनुष्य मेरी सेवा में नियुक्त हैं"। अच्छा, जब मैं अपने थाली-बासन को धोता-माँजता हूँ तब क्या मैं थाली-बासन की सेवा नहीं करता ? इसलिए क्या मेरे थाली-बासन मुझ से बड़े हैं ? वह सब मेरे कतिपय अभावों को दूर करते हैं इसीलिए मैं उनकी सेवा करता हूँ। मैं क्या अपने गधे की सेवा-सुश्रूषा नहीं करता ? मैं क्या उसके पाँव धो नहीं देता—उसकी देह नहीं मलता ? तुम क्या नहीं जानते कि प्रत्येक मनुष्य अपनी ही सेवा किया करता है ? कोई आदमी जैसे अपने गधे की सेवा करता है, वैसे ही तुम्हारी भी सेवा करता है। तुम्हारे साथ मनुष्य की तरह कौन व्यापार करता है ? कौन तुम्हारे ऐसा होना चाहता है ? लोग जैसे सुक्रात का अनुकरण करते थे, वैसे ही क्या कोई तुम्हारा अनुकरण करना चाहता है ?

"जानते हो, मैं तुम्हारा माथा काट ले सकता हूँ।" अच्छी बात कही। मैं वह बात भूल गया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस हिसाब से लोग शीतला के देवता की पूजा करते हैं, ज्वर के देवता की पूजा करते हैं उसी हिसाब से तुम भी मेरे पूज्य हो।

२—तब लोग किसका इतना भय करते हैं ? अत्याचारी राजा का भय ?—उसके रक्षकों का भय ? ईश्वर करे कि हम लोगों को वह भय करना न पड़े। जिसकी स्वाधीनता प्रकृतिसिद्ध है उस मनुष्य की आत्मा अपनी प्रकृतिगत विघ्न-बाधाओं को छोड़-कर दूसरे प्रकार की विघ्न-बाधाओं से क्या उत्तेजित अथवा विच-लित हो सकती है ? कभी नहीं, वह केवल मिथ्या-ज्ञान और मोहवश ही इस प्रकार विचलित हुआ करता है। कारण, जब

वह अत्याचारी राजा किसी मनुष्य को कहता है—"मैं तुम्हारे पाँवों में बेड़ी दे दूँगा" तब यदि वह अपने दोनों पाँवों को विशेष प्यार करता हो तो सम्भवतः कहेगा—"दोहाई धर्मा-वतार की, मुझ पर दया कीजिए," किन्तु जिसे आत्मा पर—आत्मा की स्वाधीनता पर अधिक विश्वास है वह कहेगा—"इससे यदि तुम्हें अधिक सुविधा हो तो ऐसा ही करो।"

"तो क्या तुम मुझे स्वामी कहकर स्वीकार नहीं करते ?" नहीं, मैं नहीं स्वीकार करता। मैं तुम्हें दिखलाऊँगा कि मैं ही तुम्हारा स्वामी हूँ। तुम कैसे मेरे स्वामी होगे ? ईश्वर ने मुझे स्वाधीन कर दिया है। क्या तुम समझते हो कि वह अपनी सन्तान को मोलुआ नौकर होने देंगे ? तुम मेरे इस मृतशरीर के ही स्वामी हो—यह लो, वह शरीर।

"तो क्या तुम सेवा नहीं करोगे ?"

नहीं, मैं अपनी आत्मा की ही सेवा करूँगा; और मेरे मुँह से जो यह बात कहलाना चाहते हो कि मैं तुम्हारी सेवा भी करूँगा, तो मैं कहता हूँ कि तुम्हारी सेवा मैं उसी तरह करूँगा जिस तरह मैं अपने लोटे-कटोरे की सेवा किया करता हूँ।

३—यह स्वार्थपरता नहीं है। प्रत्येक जीव की सृष्टि इसी भाव से हुई है कि वह सब कार्य अपने लिए ही करे। किन्तु ज्ञान-बुद्धि-सम्पन्न जीव-समूह इस तरह बनाये गये हैं कि यदि वे अपनी भलाई करें तो उसके साथ-ही-साथ सर्व-साधारण की भलाई भी बिना हुए नहीं रह सकती। अतएव सर्व-साधारण की भलाई छोड़कर कोई कभी अपनी वास्तविक भलाई कर नहीं सकता। क्या यह कभी आशा की जा सकती है कि मनुष्य

अपने से, अपनी भलाई से एक बारगी दूर रहेगा ? यदि ऐसा हो, तो आत्म-प्रीति-रूपी मूलतत्त्व जो समस्त प्रकृति में देखा जाता है वह कहाँ रहेगा ?

४—अतएव आत्मा के सिवा और किसी विषय पर यदि हम लोगों का विश्वास हो—और किसी विषय को यदि हम लोग भला अथवा बुरा समझें—अपने हृदय में यदि विषय-समूह की मिथ्या-प्रतीति का पोषण करें, तो इसके फल से हम लोगों को अत्याचारी राजा की सेवा में नियुक्त होना पड़ेगा । केवल राजा की सेवा होती तो भी रक्षा थी—राजा के नीच प्यादों की भी सेवा करनी पड़ेगी ।

५—जो इस प्रकार भले-बुरे के भेद का विचार करने में समर्थ है वह क्यों नहीं शान्त भाव से अपना जीवन-निर्वाह कर सकेगा ? जो बीतेगा और जो बीत चुका है उसके प्रति दृढ़ता-पूर्वक दृष्टिपात करने में क्यों न समर्थ होगा ? तुम मुझे दरिद्रता में डालना चाहते हो ? देखो, मैं उसे प्रसन्नता-पूर्वक ग्रहण कर सकता हूँ या नहीं—देखो, मैं दरिद्रता का नाटक अच्छी तरह कर सकता हूँ या नहीं। क्या तुम चाहते हो कि मैं देश का शासन करूँ ? मुझे उस प्रकार का अधिकार दो—दायित्व दो—ऐसा होने से मैं उसके कष्ट का भार भी वहन करूँगा। देश-निकाला ?—मैं चाहे जहाँ जाऊँ, वहीं अच्छी तरह रहूँगा। यहाँ जो मैं अच्छी तरह था सो स्थान के कारण नहीं—अपने मतामत के अक्षत रहने के कारण ही। मैं जहाँ जाऊँगा वहीं मतामत को साथ लेता जाऊँगा। मेरे मतामत से कोई भी मुझे वञ्चित न कर सकेगा। वही अपनी वस्तु है; उसकी रक्षा कर सकने पर, चाहे

जो-कुछ करूँ, चाहे जहाँ कहीं जाऊँ, उससे कुछ होने-जानेवाला नहीं है।

६—"किन्तु इस बार जो तुम्हारी मृत्यु का समय उपस्थित है।"

क्या कहते हो ? मृत्यु ? अजी! मृत्यु को तुम शोक का विषय मत बना डालो—वह जैसी है ठीक वैसा ही कहो। जिन पञ्चभूतों से मैं उत्पन्न हुआ था उन्हीं पञ्चभूतों में मुझे फिर मिल जाना होगा—यही न ? इसमें भय की बात क्या है ? संसार के कौन-कौन पदार्थ संसारमें ही रहेंगे ? यह क्या कोई नई घटना होने वाली है जो किसी ने कभी देखी नहीं—सुनी नहीं ? क्या इसीके लिये राजा का भय करना होगा ? क्या इसी कार्य का साधन करने के लिए रक्षक लोग बड़ी-बड़ी तेज़ तलवारें लिये हैं ? यह बात दूसरे के निकट कहो; इन सब चीज़ों को मैंने अच्छी तरह परीक्षा करके देख लिया है। मेरे ऊपर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है। ईश्वर ने मुझे स्वाधीन कर दिया है; उनकी क्या आज्ञा है, सो मैं जानता हूँ। मुझे कोई भी क़ैदी नहीं बना सकता। मेरे मुक्तिदाता मेरे साथ ही हैं। मेरे विचारकर्त्ता भी मेरे साथ ही हैं। तुम केवल मेरे शरीर के स्वामी हो। उससे मेरा क्या होता जाता है ? मेरी सम्पत्ति की बात कहते हो ? सम्पत्ति-नाश से मेरा क्या होने जाने वाला है ? निर्वासन, कारावास-दण्ड ?—मैं फिर भी कहता हूँ—तुम जब कहोगे, तभी मैं अनायास इन सब चीज़ों को छोड़कर चला जाऊँगा। तुम एक बार अपनी शक्ति का प्रयोग करके देखो न, देखें तो कि उसकी दौड़ कहाँ तक है!

७—"किन्तु राजा मुझे बाँध जो देगा।" क्या मुझे बाँधेगा ?

नहीं, मेरे दोनों पाँवों को। मेरा क्या लेगा ?—मेरा मस्तक। मेरी जिस चीज़ को कोई बन्धन में डाल नहीं सकता वह चीज क्या है ?—मेरी आत्मा, मेरी आत्म-स्वाधीनता। इसीसे प्राचीन लोग उपदेश देते हैं कि "अपने को जानो।"

८—तब मुझे भय किसका है ? राजा के द्वारपालों का ? वे मेरा क्या कर सकते हैं ? मुझे वे प्रवेश करने न देंगे ?—मैं यदि प्रवेश करना चाहूँ तभी तो वे प्रवेश करने न देंगे

मेरी इच्छा हो तो भी मैं प्रवेश नहीं करूँगा। कारण, मेरे लिए अपनी इच्छा की अपेक्षा ईश्वर की इच्छा ही बलवती है। मैं उन्हीं का अनुयायी, दास और अनुचर हूँ; उनकी जो इच्छा है वही मेरी भी इच्छा होगी, वह जिस पथ पर चलने को कहेंगे उसी पथ पर मैं चलूँगा। मुझे कोई बाहर निकाल नहीं सकता; जो लोग ज़ोर करके प्रवेश करना चाहते हैं वे ही निकाल बाहर किये जाते हैं। मैं प्रवेश करना क्यों नहीं चाहता ? कारण, मैं जानता हूँ कि जो लोग राजद्वार में प्रवेश करते हैं उन्हें कोई भी अच्छी चीज़ नहीं मिलती। किन्तु अमुक मनुष्य को सीज़र ने सम्मानित किया है, इसके लिए जब मैं उसे उसके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करते सुनता हूँ तब मैं उस आदमी से पूछता हूँ—तुम्हारे भाग्य में क्या लाभ हुआ ?—किसी देश का शासन-भार ? अच्छा, उसके साथ ही क्या तुम्हें न्याय-परायणता की भी कुछ शिक्षा मिली है ?—मैजिस्ट्रेट का कार्य ?—तो उसके साथ ही अच्छा मैजिस्ट्रेट होने की कुछ शक्ति भी अर्जन की है ? तो फिर क्या हुआ ? एक आदमी ने केवल थोड़े से चीनी बताशे लुटा दिये हैं, लड़के उन्हें लेने के लिए आपस में छीना-

झपटी कर रहे हैं; किन्तु जवान लोग उसके लिए लालायित नहीं हो सकते; वे उन सबको तुच्छ समझते हैं। सरकारी नौकरी बाँटी जा रही है—लड़के उसकी खोज करें; धन बाँटा जा रहा है—लड़के उसके लिये छीना-झपटी करें। वे राजद्वार से निकाले जा रहे हैं—मार खा रहे हैं; तथापि जिस हाथ से मार खाते हैं उसी हाथ का पुनः चुम्बन करते हैं। किन्तु मेरे लिए राजा के ये दान तुच्छ से भी तुच्छ हैं।

वेषभूषा

१—एक दिन एक युवक बड़े यत्न से बाल सँवारकर और सज-धजकर एपिक्टेटस के निकट पहुँचा। एपिक्टेटस ने उससे इस प्रकार बातचीत की:—

"किसी-किसी कुत्ते को, किसी-किसी घोड़े को अथवा और किसी जन्तु को क्या तुम सुन्दर नहीं समझते?"

वह बोला,—"हाँ, समझता तो हूँ?"

"उसी प्रकार क्या कोई-कोई मनुष्य भी सुन्दर अथवा कुरूप नहीं होता?"

"होता तो है।"

"ये सब जो सुन्दर जीव-जन्तु हैं, उनमें से प्रत्येक को क्या हम लोग एक ही कारण से सुन्दर कहते हैं? अथवा प्रत्येक के भीतर ऐसा कुछ है जो उसको शोभा देता है और जिसके रहने की वजह से हम लोग उसे सुन्दर कहते हैं? असली बात यह है—हम लोग देखते हैं कि प्रकृति ने विशेष-विशेष उद्देश्य के

साधन के निमित्त कुत्ता, घोड़ा, कोयल आदि विशेष-विशेष जीव-जन्तुओं की सृष्टि की है; अतएव इस प्रकार सिद्धान्त करना युक्ति-विरुद्ध न होगा कि प्रत्येक जाति के जीव-जन्तु के भीतर अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार जो सब जीव श्रेष्ठ हैं उन्हीं को हम लोग सुन्दर कहते हैं और प्रत्येक जाति के जीव की प्रकृति विभिन्न होने के कारण उनमें से प्रत्येक का सौन्दर्य भी विभिन्न प्रकार का है। क्या यह बात नहीं है ?

उस मनुष्य ने इस बात की यौक्तिकता स्वीकार की।

२—"अतएव जिस विशेषता के रहने से कुत्ता सुन्दर कहा जाता है, उसीसे घोड़ा कुत्सित मालूम होता है और जिस विशेषता से घोड़ा सुन्दर प्रतीत होता है, उसीसे कुत्ता कुत्सित मालूम होता है। जातिगत प्रकृति के भेद से क्या सौन्दर्य के प्रकार में भी भेद नहीं होता ?"

"हाँ, ऐसा तो मालूम होता है।"

"जिस गुण को पाकर एक आदमी सुन्दर पहलवान बनता है, उसी गुण को पाकर कोई आदमी कभी सुन्दर नर्तक नहीं हो सकता।"

वह आदमी बोला—"यह तो ठीक ही है।"

"मनुष्य की सुन्दरता तब किस पर निर्भर करती है ?"

"जिस हिसाब से कुत्ता सुन्दर कहा जाता है—घोड़ा सुन्दर कहा जाता है, उसी एक ही हिसाब से क्या मनुष्य भी सुन्दर नहीं कहा जाता ?"

उस आदमी ने कहा—"हाँ, बात तो यही है।"

"तब कुत्ते का सौंदर्य किस बात पर निर्भर करता है ?"—

कुत्ते का स्वधर्म कुत्ते में रहने पर । "और घोड़े का सौंदर्य ?" घोड़े का स्वधर्म घोड़े में रहने पर । यदि ऐसा हो तो क्या मनुष्य का सौंदर्य भी मनुष्य के स्वधर्म पर निर्भर नहीं करता ? अतएव हे सौम्य युवक ! यदि तुम सुन्दर होना चाहो, तो मनुष्य का जो स्वधर्म है उसीकी उन्नति करने का यत्न करो । किन्तु यह मनुष्यधर्म क्या है ? तुम जब किसी की मन से प्रशंसा करते हो तब किसलिए उसकी प्रशंसा करते हो ? क्या सज्जनता के लिए नहीं ?.

"हाँ, सज्जनता के लिए ही ।"

मिताचारी और अमिताचारी—इनमें तुम किसकी प्रशंसा करते हो ?

"मिताचारी की ।"

इन्द्रियासक्त और जितेन्द्रिय—इनमें तुम किसकी प्रशंसा करते हो ?

"जितेन्द्रिय की ।"

अतएव जिसकी तुम प्रशंसा करते हो उसके समान यदि तुम अपनेको बना सको तभी जानना कि तुम अपनेको सुन्दर बना सके हो । किन्तु जितने दिनों तक इन सब विषयों की उपेक्षा करोगे उतने दिनों तक—अपनेको सुन्दर बनाने के तुम कितने ही उपायों का अवलम्बन करो—तुम कुत्सित, कुरूप ही बने रहोगे ।

तुम मांस नहीं हो—तुम केश नहीं हो; तुम हो आत्मा—पुरुष । तुम यदि अपनी आत्मा को सुन्दर बना सको, तभी तुम सुन्दर होगे । तुम कुत्सित हो—ऐसा मैं तुम से साहसपूर्वक कह

नहीं सकता; किन्तु यदि कोई तुम्हें कुत्सित कहे तो तुम्हें उसकी बात को सह लेना उचित है। कारण, इस अवस्था में तुम्हारे लिये कुत्सित के सिवा और किस शब्द का प्रयोग किया जा सकता है? आलसिवाइडिस तो एक अद्वितीय सुन्दर पुरुष थे। सुकरात ने उन्हें क्या कहा था सो जानते हो? उन्होंने कहा था—सुन्दर होने की चेष्टा करो। क्या माथे के केशों को घुँघरारे बनाकर, पाँवों की रोमावली को उखाड़कर सुन्दर होगे?—नहीं, ऐसा नहीं होगा। अपनी आत्मा को सुव्यवस्थित करो—संयत करो; समस्त बुरी चिन्ताओं को आत्मा से दूर करो।

"शरीर के सम्बन्ध में तब क्या करना चाहिए?"

"प्रकृति ने शरीर को जिस तरह से बनाया है उसे उसी तरह से रखो। जान रखो, एक दूसरे पुरुष शरीर की खबरदारी करते हैं, शरीर को उन्हीं के हाथ में समर्पण कर दो।"

"तो क्या शरीर को गन्दा और मैला-कुचैला बनाये रखना होगा?"

"कभी नहीं। तुम वास्तव में जैसे हो—प्रकृति ने तुम्हें जैसा बनाया है—उसी तरह तुम अपनेको साफ़—सुथरा रखो। पुरुष पुरुषों की तरह, स्त्रियाँ स्त्रियों की तरह और बच्चे बच्चों की तरह साफ़-सुथरे रहें।

३—मैं यह नहीं चाहता कि तत्त्वज्ञानी का शारीरिक भाव देखकर लोग डरकर तत्त्वज्ञान से दूर भागें। जैसे और सब विषयों में, वैसे ही शारीरिक विषय में भी तत्त्वज्ञानी को सदैव प्रसन्न और निरुद्विग्न रहना चाहिए।

भाइयो! तुम लोग देखो, मेरे पास कुछ भी नहीं है। मुझे

किसी चीज़ को भी आवश्यकता नहीं है। देखो, मैं बिना घर का-बिना जमीन का हूँ—मैं निर्वासित हूँ। यद्यपि मैं गृहहीन हूँ तथापि धनी लोग जिन चिन्ताओं से, जिन मानसिक कष्टों से पीड़ित रहा करते हैं, उनसे मैं बचा हुआ हूँ। मेरे शरीर को भी देखो; इन कठिनाइयों के कारण मेरा शरीर तनिक भी खराब नहीं हुआ है। यदि मैं क़ैदी की तरह पोशाक पहनकर रहूँ तो तत्त्वज्ञान का उपदेश सुनने के लिए कौन आवेगा? ऋषि-मुनि होने के लिए यदि इस भाव से रहना हो, तो मैं उस प्रकार का ऋषि-मुनि होना भी नहीं चाहता।

तत्त्वज्ञान का उपदेश सुनने के लिए जब कोई पहले-पहल मेरे पास आवे, तो मैं चाहता हूँ कि वह बालों को बिखराकर नहीं बल्कि सुन्दर घुँघरूदार केशों के साथ मेरे पास आवे; क्योंकि ऐसा होने से मैं यह समझूँगा कि उसे सौन्दर्य का कुछ बोध है। मैं समझूँगा वह जिसको शोभायमान और सुन्दर समझता है उसीके अनुसार वह अपने को विभूषित करता है। ऐसे आदमी को केवल यही समझा देने की आवश्यकता है कि प्रकृत सुंदर क्या है। मैं उससे कहता हूँ—"सौम्य युवक! तुम सुन्दरता को खोज करते हो—अच्छा ही करते हो। किन्तु असली सौन्दर्य वहीं है जिस स्थान में तुम्हारी आत्मा विराजमान है—जहाँ तुम्हारे राग-द्वेष हैं, जहाँ तुम्हारी प्रवृत्ति-निवृत्ति हैं, जहाँ तुम्हारी स्वाधीनता विद्यमान है; किन्तु तुम्हारा शरीर मृत्पिण्ड के सिवा और कुछ नहीं है। तब इस शरीर के लिए व्यर्थ इतना परिश्रम और यत्न करने की आवश्यकता क्या? कारण, महाकाल यदि तुम्हें और कोई शिक्षा न भी दे, तो कम-से-कम यह शिक्षा अवश्य

देगा कि यह शरीर कुछ भी नहीं है। किन्तु यदि मेरे पास कोई ऐसा आदमी आवे जिसका शरीर गन्दा और मैला-कुचैला है, जिसके बाल घुटने तक लटके हैं, तो मैं उससे क्या कहूँगा? किस चीज की उपमा देकर, किस चीज का दृष्टान्त देकर मैं उसे समझाऊँगा? यदि वह सौन्दर्य की कोई चर्चा न करे, तो मैं सौन्दर्य से भिन्न पथ उसके लिए किस प्रकार निर्दिष्ट करूँगा? मैं किस प्रकार उसे समझाऊँगा कि "सौन्दर्य यहाँ नहीं—यहाँ ही सौन्दर्य है?" मैं यदि उससे कहूँ कि शारीरिक मलिनता पर सौन्दर्य निर्भर नहीं करता—सौन्दर्य आत्मा की वस्तु है—तो क्या वह इसे समझेगा? वह क्या तनिक भी सौन्दर्य की खोज करता है? क्या उसके मन में सौन्दर्य का कोई भाव है? मैं यदि एक सूअर से कहूँ कि तुम कीचड़ में मत लेटो, तो क्या वह मेरी बात सुनेगा?

प्रकृति का अभिप्राय

जिनसे हम लोगों का कोई लगाव नहीं है उन्हीं सब विषयों-से हम लोग प्रकृति का अभिप्राय जान सकते हैं। जब कोई बालक किसी दूसरे बालक का प्याला तोड़ देता है, तब हम लोग स्वभावतः कहते हैं—"वह संयोग से टूट गया है।" अतएव दूसरे का प्याला टूटने पर तुम जिस भाव से देखते हो अपना प्याला टूटने पर भी तुम्हें उसी भाव से देखना उचित है। और भी बड़े-बड़े विषयों में इसका प्रयोग करो। किसी दूसरे का लड़का अथवा दूसरे की स्त्री मर गई है? यह सुनते ही .कौन

नहीं कहेगा—"यह विधाता का अखण्डनीय नियम है, यही मनुष्यों की साधारण गति है।" किन्तु जब तुम्हारा अपना लड़का अथवा तुम्हारी अपनी स्त्री मृत्यु-मुख में पड़ती है, तब तुम कहते हो—"हाय ! मैं कैसा अभागा हूँ।" किन्तु ऐसे समय में एक बार तुम्हें यह विचार कर देखना चाहिए कि दूसरे के अवसर पर तुमने किस प्रकार विचार किया था। प्रकृति का नियम सब के लिए ही समान है।

महाप्रस्थान

१—यदि कोई मेरे पास आकर कहे—"एपिक्टेटस ! मैं अपने शरीर के साथ अब बँधा नहीं रह सकता—अब मुझ से यह सहा नहीं जाता; इस शरीर के खाने-पीने का प्रबन्ध करना होगा, इसे विश्राम देना होगा, साफ़-सुथरा रखना होगा; इस अभागे शरीर के लिए कितने ही लोगों के द्वार पर जाना होगा। यह सब क्या हम लोगों की उपेक्षा के विषय नहीं हैं? यह सब क्या हम लोगों के लिए अत्यन्त तुच्छ पदार्थ नहीं हैं?, और मृत्यु भी तो अमङ्गल नहीं है। एक हिसाब से क्या हम लाग ईश्वर के आत्मीय नहीं हैं? क्या हम लोग उसके निकट से नहीं आये हैं? अतएव जहाँ से आये हैं वहीं हम लोग चले जायँ! जिन सब बन्धनों से हम लोग यहाँ बँधे हैं और जिन बोझों से दबे हुए हैं, आओ हम लोग उन बन्धनों से मुक्त हों! यहाँ डाकू हैं, चोर हैं, आईन-अदालत हैं, और हम लोगों के वह सब प्रभु हैं जिनका बहुत-कुछ अधिकार अपने शरीर पर—अपनी धन-

सम्पत्ति पर हम समझते हैं। अतएव आओ, हम लोग उन्हें दिखा दें कि किसी मनुष्य के ऊपर उन लोगों का तनिक भी अधिकार नहीं है।" इन बातों के उत्तर में मैं इस प्रकार कहता हूँ:—

"भाइयो! ईश्वर के आदेश की प्रतीक्षा करो। वह जब स्वयं इशारा करेंगे—तुम्हारे काम से तुम्हें छुट्टी देंगे, तभी तुम मुक्त होकर उनके पास जाओगे। किन्तु अभी जिस जगह उन्होंने तुम्हें रखा है उसी जगह धैर्य के साथ रहो। वस्तुतः थोड़े ही दिनों तक तुम्हें इस प्रवास में रहना होगा—जो लोग इस भाव से देखते हैं वे आसानी से यहाँ के सब कष्टों को सह सकते हैं। कारण, जिनके निकट शरीर कुछ नहीं है, धन-सम्पत्ति कुछ नहीं है, उन्हें क्या कोई राजा, कोई शत्रु अथवा कोई आईन अदालत भय दिखा सकती है? अतएव, यहाँ रहो, बिना कारण इस जगह से प्रस्थान मत करो।"

२—"अच्छा, कितने दिनों तक इस आदेश का पालन करना होगा?" जितने दिनों तक तुम्हारे लिए हितजनक हो उतने दिनों तक; अर्थात् जितने दिनों तक तुम अपने उपयुक्त कर्म्मों को करने में समर्थ होओ।

३—किसी अनुचित कारण से या कायर की तरह अथवा किसी तुच्छ विषय का बहाना करके, इस लोक से प्रस्थान मत करना। फिर भी कहता हूँ कि यह ईश्वर की इच्छा नहीं है। कारण, पृथ्वी की वर्त्तमान व्यवस्था-प्रणाली और वर्त्तमान मनुष्य जाति के वंश-प्रवाह की रक्षा करना ईश्वर का अभिप्राय है। यह जान रखना कि इसके द्वारा ईश्वर का कोई गूढ़ प्रयोजन सिद्ध होता है।

आत्मशक्ति का ज्ञान और साधना

१—जो तुम्हारे सामर्थ्य के बाहर है ऐसे कार्य में यदि तुम प्रवृत्त होओ, तो तुम्हें निश्चय ही लज्जित होना पड़ेगा; केवल यही नहीं, जो कार्य तुम्हारे द्वारा उत्तम रूप से सम्पन्न हो सकता है वह भी बिगड़ जायगा।

२—एक आदमी ने पूछा—"मैं यह कैसे जानूँगा कि मैं किस कार्य के लिये उपयुक्त हूँ ?" एपिक्टेटस ने उत्तर दिया—"सिंह जब निकट आता है तब बैल क्या अपनी शक्ति को नहीं समझता और सब गायों के झुण्ड की रक्षा करने के लिए क्या वह अकेला आगे नहीं बढ़ता ? अतएव जिसे शक्ति है उसे अपनी शक्ति के सम्बन्ध में ज्ञान भी है। जैसे बलवान बैल क्षणभर में तैयार नहीं होता, वैसे ही महान् मनुष्य का महत् चरित्र भी क्षण-भर में गठित नहीं होता। शक्ति प्राप्त करने के लिए कठोर साधना चाहिये। बिना साधना के छोटे दिल से किसी दुःसाध्य कार्य की ओर दौड़ना एकदम अनधिकार चर्चा है, यह जान रखना।

और कितने दिन ?

१—कितने दिनों में तुम श्रेष्ठ कार्य करने की योग्यता प्राप्त करोगे ? विवेक-बुद्धि की किसी प्रकार भी उपेक्षा न करो—यह शिक्षा तुम्हें कब प्राप्त होगी ? उपदेश तो बहुत पा चुके हो, किन्तु उसके अनुसार क्या तुम कार्य करते हो ? अपने चरित्र के संशो-

धन के लिए अभी तक किसी गुरु की राह देख रहे हो ? तुम तो बालक नहीं हो, तुम अब जवान मनुष्य हुए। अपने चरित्र का संशोधन करने में अब भी यदि लापरवाही करो, यत्न में ढिलाई करो, बराबर प्रतिज्ञा-पर-प्रतिज्ञा [illegible]रो, प्रतिदिन ही यदि सोचो कि आज नहीं—कल से मैं कार्य आरम्भ करूँगा, तब तुम उन्नति के पथ पर एक पग भी आगे न बढ़ सकोगे। जो लोग जीवन्मृत-अवस्था में हैं उन्हीं तुच्छ हतभाग्य दूसरे लोगों की तरह तुम्हें जीवन-निर्वाह करना होगा।

२—अतएव जवान मनुष्य के लिए जो उपयुक्त है—उन्नतिशील मनुष्य के लिए जो उपयुक्त है, वैसे कार्य में अभी लग जाओ। जो कुछ तुम उत्तम समझते हो उसे ही अपने जीवन का बीजमंत्र बना लो। [illegible]था समय नष्ट मत करो। शुभ अवसर को मत खोओ। हम लोगों का यह जीवन एक भारी रणक्षेत्र है। एक दिन के युद्ध में ही जय अथवा पराजय हो सकती है।

३—सुकरात की दृष्टि विवेक के सिवा और किसी वस्तु के प्रति आबद्ध नहीं थी, इसीसे वह इतना महत्त्व प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। तुम सुकरात नहीं हो सकते, किन्तु सुकरात की तरह अपनी जीवन-यात्रा का निर्वाह करना तुम्हारी शक्ति के बाहर नहीं है।

स्मरण रखने की बात

विपद्-आपद् के लिए सदैव इन बातों को अपने सामने प्रस्तुत रखना—

"हे ईश्वर, हे विधाता, तुम मुझे जहाँ जाने को कहो उस स्थान पर मैं निर्भय होकर जा सकूँ; कुमति की प्ररोचना से यदि कभी मुझ में अनिच्छा उत्पन्न हो तो भी मैं तुम्हारे आदेश का पालन करने में समर्थ होऊँ।"

"वही आदमी हम लोगों में ज्ञानी है, वही दैवी व्यापारों को समझने में समर्थ है, जिसने भवितव्यता के साथ एक प्रकार से समझौता कर लिया है।"

"देवताओं की जो इच्छा है वही पूर्ण हो। मृत्यु मेरे शरीर का नाश कर सकती है, मेरी आत्मा की कोई हानि नहीं कर सकती।"

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर के

प्रकाशन

१—दिव्य-जीवन ।=)
२—जीवन-साहित्य (दोनों भाग) १=)
३—तामिलवेद ॥।)
४—शैतान की लकड़ी ॥।=) (अप्राप्य)
५—सामाजिक कुरीतियाँ ॥≡)
६—भारत के स्त्री-रत्न (दोनों भाग) १॥।-)
७—अनोखा ! १।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ॥।-)
९—यूरोप का इतिहास (तीनों भाग) २)
१०—समाज-विज्ञान १॥)
११—खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र ॥।≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व ॥।=)
१३—चीन की आवाज़ ।-) (अप्राप्य)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह (दो भाग) १।)
१५—विजयी बारडोली २)
१६—अनीति की राह पर ।≡)
१७—सीताजी की अग्नि-परीक्षा ।-)
१८—कन्या-शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग ।=)
२०—कलवार की करतूत =)
२१—व्यावहारिक सभ्यता ।)॥
२२—अँधेरे में उजाला ।≡)
२३—स्वामीजी का बलिदान ।-)
२४—हमारे ज़माने की गुलामी (अप्राप्य) ।)
२५—स्त्री और पुरुष ॥)
२६—घरों की सफाई ।) (अप्राप्य)
२७—क्या करें ? (दो भाग) १॥=)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ॥=)
२९—आत्मोपदेश ।)

३०—यथार्थ आदर्श जीवन
(अप्राप्य) ॥-)

३१—जब अंग्रेज नहीं आये थे— ।)

३२—गंगा गोविन्दसिंह ॥=)

३३—श्रीरामचरित्र १।)

३४—आश्रम-हरिणी ।)

३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)

३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)

३७—महान् मातृत्व की ओर— ।॥=)

३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
(अप्राप्य)

३९—तरंगित हृदय „ ॥)

४०—नरमेध १॥)

४१—दुखी दुनिया ॥)

४२—ज़िन्दा लाश ॥)

४३—आत्म-कथा
(दो खण्ड) २)
सजिल्द २।)

४४—जब अंग्रेज़ आये
(ज़ब्त) १।=)

४५—जीवन-विकास
अजिल्द १।) सजिल्द १॥)

४६—किसानों का बिगुल =)
(ज़ब्त)

४७—फाँसी ! ॥)

४८—अनासक्तियोग तथा गीताबोध छप रही है ।)

अनासक्तियोग =)

४९—स्वर्ण-विहान (नाटिका)
(ज़ब्त) ।=)

५०—मराठों का उत्थान और पतन २॥)

५१—भाई के पत्र—
अजिल्द १॥) सजिल्द २)

५२—स्वगत— ।=)

५३—युग-धर्म (ज़ब्त) १=)

५४—स्त्री-समस्या
अजिल्द १।॥) सजिल्द २)

५५—विदेशी कपड़े का मुक़ाबला ॥=)

५६—चित्रपट ।=)

५७—राष्ट्रवाणी ॥=)

५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी १)

५९—रोटी का सवाल १)

६०—दैवी सम्पद् ।=)

सस्ता-साहित्य-मण्डल

के

ऊँचा उठाने वाले प्रकाशन

१—दिव्य जीवन

२—जीवन-साहित्य

३—तामिल वेद

४—ब्रह्मचर्य-विज्ञान

५—अनीति की राहपर

६—कर्मयोग

७—व्यावहारिक सभ्यता

८—स्त्री और पुरुष

९—क्या करें ?

१०—श्रीरामचरित्र

११—स्वाधीनता के सिद्धान्त

१२—नरमेध !

१३—दुखी दुनिया

१४—आत्म-कथा

१५—स्वागत

मूल्य अन्दर देखें